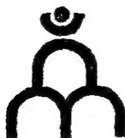
लोकतंत्र की कसौटियाँ

विजयदेव नारायण साही



प्रकाशक : हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९९१

मुद्रक : पियरलेस प्रिन्टर्स, १, बाई का बाग, इलाहाबाद

मूल्य : रु० ६०.००

यह पुस्तक समर्पित है

साहो जी की

सगुणी सुलक्षणी पुत्रवधू

माधवी

और

लोकतंत्र की रक्षा में प्राणों की

आहुति देने वाले उसके पिता

डॉ० सत्यव्रत सिन्हा

को

कंचन लता साहो

कृतज्ञता-ज्ञापन

साही जी के राजनैतिक लेखों को एक संग्रह में प्रकाशित करने का विचार उनके जिस युवा साथी ने मुझे दिया, उसकी मैं बहुत आभारी हूँ।

राजगीर में 'सम्पूर्ण क्रांति और कौमी एकता' सम्मेलन तथा पटना में 'गांधी-लोहिया-जयप्रकाश जयन्ती' पर दिए साही जी के भाषणों के कैसेट उपलब्ध कराने के लिए श्री सूर्यनारायण चौधरी, श्री नूर अहमद, श्री जितेन्द्र राठौर और श्री यूसुफ़ बेग को भी मैं बहुत आभारी हूँ।

अपनी व्यस्तता और अस्वस्थता के बावजूद जिन्होंने साही जी की पुस्तक की भूमिका लिखी, उन मान्य श्री मधु लिमये जी का मैं हार्दिक अभिनन्दन और कृतज्ञता-ज्ञापन करती हूँ।

१४ बैंक रोड, इलाहाबाद
१६-७-६१

कंचन लता साही

प्रकाशकीय

लोकतंत्र लोकमानस की राजनैतिक अभिव्यक्ति है। राजतंत्र की तुलना मे लोकतंत्र की विकास-यात्रा अधिक जटिल एवं संघर्षशील रही है। मानव-मूल्यों पर आधारित अपनी मूल्यवत्ता को स्थायी बनाये रखना उसके लिए उत्तरोत्तर कठिन होता जा रहा है, तथापि उसका विश्वव्यापी उन्मेष पिछले दशक की सबसे बड़ी घटना कहा जा सकता है। साम्यवादी चेतना ने पूरे संसार को समता का जो क्रान्तिकारी संदेश दिया, वह यथार्थ की कसौटी पर उतना वैज्ञानिक सिद्ध नही हुआ जितना घोषित किया जाता था। चिन्तकों ने तानाशाही को नैतिक दृष्टि से अमानवीय और अग्राह्य माना है, चाहे वह जनता की तानाशाही ही क्यों न हो। रूस, चीन तथा योरोप के चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड और जर्मनी के भीतर जैसे अकल्पनीय परिवर्तन हुए हैं, उनसे लोकतंत्र की शक्ति पुनः स्थापित हुई है। फ्रांस की राजनैतिक क्रान्ति ने समता, स्वतंत्रता और भ्रातृभावना की त्रिसूत्री संकल्पना जगायी। उसने योरोपीय मानस को आत्ममंथन के लिए इतना प्रेरित किया कि साम्यवाद का प्रभुत्व उन देशों में भी प्रश्नांकित हो गया जहाँ वह सर्वथा स्थायी मान लिया गया था। जर्मनी की दीवार का टूटना लोकतंत्र की विजय का ही उद्घोष है। एशिया और अफ्रीका का राजनैतिक संघर्ष योरोप की तुलना में अधिक जटिल और विडम्बनापूर्ण रहा है क्योंकि उपनिवेशवाद की कुत्सित प्रवृत्ति, सभ्यता के नाम पर, संस्कृति की जड़ें खोद रही थी। काले-गोरे का भेद अफ्रीका ही नही, अमरीका और इंग्लैंड मे भी विषमता का विष बोता रहा। भारतवर्ष भी उस प्रभाव से अछूता नही रहा। उसका अहिंसात्मक संघर्ष एवं असहयोग का मार्ग स्वातंत्र्य-संग्राम में एक नया कीर्तिमान बन गया। भले ही अमरीका ने लोकतंत्र का मिस्र की पिरामिडों से ऊँचा स्मारक बना लिया हो, पर भारत ही संसार का सबसे बड़ा देश है जो लोकतंत्र में निष्ठा और विश्वास रखता है। रामराज्य का आदर्श मानने के बाद भी समाजवाद और गणतंत्र की परम्परा भारतीय संविधान का मूल आधार सिद्ध होती है।

देश के कर्णधारो ने स्वतंत्रता पूर्व ही नही, स्वातंत्र्योत्तर युग में भी लोकतंत्र पर आस्था रक्खी है तथा सत्ता-परिवर्तन उसी के माध्यम मे संभव

बनाया है। साहित्यिक क्षेत्र में भी साम्यवादी विचारों के अतिरिक्त समाजवादी विचारधारा गतिशील रही है। उसने राष्ट्रीयता का गांधीवादी विचार निष्प्रेरक नहीं माना है क्योंकि इस देश की समस्याओं को उसके बिना सही रूप में समझा नहीं जा सकता।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के जन्म-दिन, ३ अगस्त को 'कवि-दिवस' की मान्यता का समर्थन राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति तथा उत्तरप्रदेश के वर्तमान राज्यपाल द्वारा हुआ; साथ ही इस बार 'लोकतंत्र का विश्वव्यापी उन्मेष और भारतीय साहित्यकार' विषय को केन्द्र में रखकर डॉ० विद्यानिवास मिश्र एवं डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी ने परिचर्चा का समारम्भ कर दिया। पाँच सह-विषय भी अगले तीन दिनों की गोष्ठियों में विचाराधीन रहे। यथा—

- लोकतंत्र की अवधारणा और भारतीय दृष्टि
- साम्यवादी चिन्तन: योरोप और एशिया के बदलते संदर्भ
- समता और स्वतंत्रता की मूल्य-चेतना और भारतीय साहित्यकार
- व्यक्ति और समाज : मान्यताओं में नया संतुलन
- लोकतांत्रिक व्यवस्था और अभिव्यक्ति का संकट

उपेन्द्रनाथ अश्क, अमृतराय, नरेश मेहता, शैलेश मटियानी, लक्ष्मीकान्त वर्मा, डॉ० बनवारीलाल शर्मा, महेन्द्रराजा जैन तथा केशवचन्द्र वर्मा एवं सत्यप्रकाश मिश्र आदि प्रयाग से सम्बद्ध साहित्यकारों के अतिरिक्त निर्मल वर्मा, डॉ० देवराज, डॉ० बादिवडेकर, डॉ० हर्षनारायण, डॉ० शिवप्रसाद सिंह, डॉ० युगेश्वर, सर्वश्री कृष्णनाथ, ठाकुरप्रसाद सिंह, जितेन्द्र सिंह, बिशन टण्डन, प्रणवकुमार वन्द्योपाध्याय, महेन्द्र कार्तिकेय प्रभृति ने वैचारिक योगदान देकर लोकतंत्र की अनेक स्तरीय व्याख्या की। समापन हिन्दी-निष्ठ न्यायमूर्ति श्री प्रेमशंकर गुप्त के प्रेरक वक्तव्य से हुआ। इसी अवसर पर मैंने इन दो पंक्तियों में उसे परिभाषित करने का उपक्रम किया है—

समता, ममता, स्वाभिमान सब मानव-मन की भाषा।
मानवता ही लोकतंत्र की प्रामाणिक परिभाषा ॥

मेरा और साही का साहचर्य केवल 'नयी कविता', 'इलाहाबाद विश्वविद्यालय' और 'शतरंज' तक सीमित नहीं रहा, वरन् साहित्यिक और सामाजिक चिन्तन में भी हमारी आत्मीयता एवं समशीलता गतिशील रही। राजनैतिक क्षेत्र में अवश्य वे सबसे आगे थे और यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं है कि उनसे पर्याप्त प्रेरणा ली है, मित्र के नाते मैंने विशेषतः। उनके भाषणों में जो असाधारण प्रभाव रहता था, हम सब उसके साक्षी हैं। इस नयी कृति में उनके इसी रूप की प्रधानता है। राजनीति, साहित्य, सम्पूर्ण क्रान्ति,

लोकतन्त्र, जनतंत्र, समाजवाद और शिक्षा के सभी संदर्भ लोहिया की विचारधारा के साथ समन्वित साही जी की निजी व्याख्या एवं स्वतंत्र चिन्तन का प्रमाण हैं। इसके प्रस्तुतीकरण में श्रीमती कंचन साही का आत्मदानी सहयोग अविस्मरणीय है। एकेडेमी उसके लिए कृतज्ञ है।

विजयदेवनारायण साही आचार्य नरेन्द्रदेव, जयप्रकाश और लोहिया की विचारधारा को चिन्तन और कर्म दोनों के स्तर पर अपना प्रेरणा-स्रोत समझते थे। 'परिमल', 'नयी कविता' और 'आलोचना' के क्षेत्र में उनका योगदान इसी समाजवादी भूमि से सम्बद्ध रहा है। धर्मवीर भारती सहित हम सब साहित्य को राजनीति से नीचे नहीं समझते थे और आज भी ऐसा ही मानते हैं। साही जी के द्वारा जो विचार 'लोकतंत्र की कसौटियाँ' नामक नयी पुस्तक में प्रकट किये गये है, वे उपर्युक्त पृष्ठभूमि में और अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। हिन्दुस्तानी एकेडेमी भी इससे पूर्व उनकी दो कृतियाँ 'जायसी' तथा 'छठवाँ दशक' छाप चुकी है। इस तीसरी कृति का प्रकाशन साही के व्यक्तित्व को और उजागर करने में सहयोगी होगा, साथ ही देश के जन-सामान्य एवं बुद्धिजीवियों को भी प्रेरणादायक सिद्ध होगा। मुझे विश्वास है कि इसका समुचित स्वागत होगा।

···विजयदेव·········स्वागत होगा।

जगदीश गुप्त
सचिव

भूमिका

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के स्वर्गीय विजयदेव नारायण साही के ग्यारह लेखों का यह संग्रह—लोकतंत्र की कसौटियाँ—हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। विजयदेव नारायण साही से मेरा पुराना परिचय था। वे प्रारंभ से समाजवादी आंदोलन से जुड़े हुए थे। १९६७ के लोकसभा चुनाव में साही जी संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के उम्मीदवार थे। मुझे याद है कि साही जी लोकसभा का चुनाव अत्यंत कम पैसों से, बहुत थोड़े धन से लड़े थे। चुनाव अभियान को उन्होंने जनजागरण तथा लोकशिक्षण के अभियान के रूप में बदल दिया। दुर्भाग्य से उन्हें चुनाव में सफलता नहीं मिल सकी। चुनाव के पश्चात् उन्होंने मिर्जापुर में एक प्रशिक्षण शिविर भी लगाया था और उसका संचालन उन्होंने अपने खर्च से किया था। कई समाजवादी नेता उस शिविर में उपस्थित थे। उन्होंने ही मुझे भी आमंत्रित किया था।

अभूतपूर्व तारतम्य पाया। कट्टर पंथ और जिद्दीपन से—जिसका मेल समग्र के साथ कभी नहीं होता—उन्हें चिढ़ थी। इसीलिए कम्युनिस्ट विचारधारा के प्रति साही जी कभी आकर्षित नहीं हुए। सोवियत कम्युनिज्म को वे जबर्दस्त केंद्रीकरण के रूप में देखते थे। इस तरह का केंद्रीकरण स्वाधीनता के विनाश पर ही खड़ा होता है। साही जी ऐसे समाजवाद की कल्पना करते थे जिसमें विकेंद्रीकरण और एकता तथा स्वाधीनता और समानता में समन्वय स्थापित हो सके और साथ-साथ जिसमें भ्रातृत्व की भावना भी भरपूर मात्रा में पनपे।

कम्युनिस्टों का यह दावा रहा है कि रूस की अक्तूबर, १९७० की क्रांति विश्व-इतिहास की सबसे बड़ी घटना है। जो विद्वान् इतिहास के रहस्य को जानने का, भविष्यवेत्ता होने का दावा करते हैं, उनकी इतिहास अक्सर खिल्ली उड़ाता है। मार्क्सवादी चिंतक कम्युनिज्म को 'भविष्य की लहर' मानते थे। आज वह लहर तेजी से सिकुड़ रही है। क्या यह अचरज की बात नहीं है कि सिर्फ ७०-७५ वर्षों के अंदर कम्युनिस्ट व्यवस्था पूर्व योरप में ही नहीं, स्वयं सोवियत यूनियन में भी बिल्कुल बिखर गयी है। इसके विपरीत जिन तीन सूत्रों का साही जी महत्त्व दर्शाते हैं—स्वाधीनता, समानता, भ्रातृत्व—ये दो सौ वर्ष पूर्व हुई फ्रान्सीसी क्रांति की उद्घोषणाएँ थीं—उनकी सार्थकता और औचित्य आज पुनः सिद्ध हो रहा है।

संपूर्ण क्रांति के सामाजिक और सांस्कृतिक पहलू, लोकतांत्रिक समाजवाद में साहित्य की भूमिका, राजनीति और साहित्य तथा राजनीति में साहित्यकार : एक साक्षात्कार—इन लेखों की ओर मैं पाठकों का ध्यान विशेष रूप से दिलाना चाहता हूँ। साही जी कहते हैं कि बुद्धिवादियों को और साहित्यकारों को जोखम की राजनीति करनी चाहिए, न कि सहूलियत की।

जोखम की राजनीति से क्या मतलब? "अपनी बौद्धिकता को जोखम में डालना। आज हर जागरूक बौद्धिक का यह कर्तव्य है कि वह अपनी बौद्धिकता को, जिसका उद्देश्य घुटन और जकड़न वाले समाज पर चोट करना है, जोखम में डाले। यानी स्वयं तैयार होकर घुटन और जकड़न वाली समाज की चोट को स्वीकार करे। तभी कुछ नतीजा निकल सकता है। शीशे की अलमारियों में बंद जीवन-दर्शन का भारतीय बौद्धिक के लिए आज विशेष अर्थ नहीं रह गया है···लेकिन राजनीति का एक दूसरा अर्थ भी है जिसके अनुसार वह आज के इस समाज की जकड़न और पूर्वाग्रहों पर भरपूर चोट करने और समाज की सृजनशील शक्तियों को उभरने के लिए अवसर

प्रदान करने का अस्त्र है। हो सकता है कि इस कोशिश में आज बौद्धिक वर्ग आगे के लिए सिर्फ खाद बन कर रह जाये।"

एक बार साही जी से पूछा गया कि राजनीतिक कार्यकर्ता तथा मजदूर नेता होने में और शुद्ध बौद्धिक होने में क्या आप कोई अंतर्विरोध नहीं देखते? तब साही जी ने कहा : "नहीं! सारी बौद्धिक जिज्ञासा का तान यहीं टूटता है कि वैचारिक और व्यावहारिक आचरण में सामंजस्य कैसे स्थापित किया जाये। हर जागरूक बुद्धिजीवी को हमेशा इस खतरे से बचना चाहिए कि वह हाथी के दांत वाली मीनारों का जीवन बनकर न रह जाये। उसके लिए यह जरूरी है कि वह एक व्यावहारिक आचरण का निर्वाह करके कथनी और करनी में संतुलन स्थापित करे।"

साही जी का सोच था कि "वर्तमान युग में बौद्धिक को शांति तभी मिल सकती है जब आत्मनिर्भरता और निर्भीकता के माध्यम से जनता की उठान का प्रयास किया जाये।" जनता की उठान से साही जी का मतलब था कि "उसमें उसके अधिकारों की चेतना का उदय। अपने हितों को जानने, समझने और व्यवहार में लाने की क्षमता। भारतीय जनता का मनोबल पिछले डेढ़ हजार वर्षों से निरंतर टूटता रहा है और इस टूटने से कहीं उसकी चेतना से आत्मविश्वास खो गया है।" साही जी चाहते थे कि जनता के टूटे मनोबल को दुबारा ऊपर उठाया जाये।

लोहिया और संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के प्रति साहीजी के खिंचाव का सबसे महत्त्वपूर्ण कारण था उनका सप्तक्रान्ति-दर्शन। जयप्रकाश जी की संपूर्ण क्रांति को साही जी इसी सप्तक्रांति की एक कड़ी मानते थे।

एक लेख में उन्होंने प्रशासकों, अध्यापकों तथा छात्रों के बीच उत्पन्न अलगाव और खाई की चर्चा की है। साही जी स्वयं अध्यापक थे और इसलिए यह चर्चा आधिकारिक भी है और दिलचस्प भी।

साही जी ने तानाशाही कम्युनिज्म को जहाँ अस्वीकार किया था, वहाँ परंपरागत जनतांत्रिक समाजवाद के बारे में भी उनके मन में संदेह था। साही जी की राय में, 'जनतांत्रिक समाजवाद' के बारे में जो भ्रांतियाँ हैं, उनका मूल 'डेमॉक्रटिक' यानी 'जनतांत्रिक' शब्द के अस्पष्ट और संदिग्ध प्रयोग में है। साही जी कहते है कि 'जनतांत्रिक' शब्द की अनुपयुक्तता को देखकर हमारे लिए 'शांतिमय तरीका' इस शब्दावली का इस्तेमाल ही श्रेयस्कर होगा। शांतिमय तरीकों में और महज चुनावी, संसदीय तथा वैधानिक उपायों मे बड़ा अंतर है। साही जी भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की गांधीवादी परंपरा को दृष्टिगत रखकर कहते है कि हमारे साधनो मे हड़ताल, सत्याग्रह

आदि सभी शांतिपूर्ण उपायों का समावेश होना चाहिए। पिछले चार दशकों के इतिहास ने समाजवादी आंदोलन के सामने ही नहीं, बल्कि वामपंथी दलों के सामने एक महत्त्वपूर्ण समस्या को प्रस्तुत किया है। वह समस्या यह है कि जो लोग सशस्त्र क्रांति के नाम पर हथियार उठाते हैं, वे उत्तरोत्तर साधारण जनता से अलग-थलग होकर विशुद्ध आतंकवादी और अपराधी बन जाते हैं। साथ-साथ यह भी सत्य है कि जो दल चुनाव-प्रक्रिया तथा संसदीय राजनीति को, रणनीति और व्यावहारिक क्रिया के तौर पर ही सही, एक दफा अपना लेते हैं, वे धीरे-धीरे मौलिक परिवर्तन की राजनीति को भूल जाते और सहूलियत की राजनीति करने लगते हैं। गांधीवादी आदर्श, सादगी पर आधारित जीवन-प्रणाली तथा सिविल नाफरमानी पर अटूट निष्ठा ही समाजवादी आंदोलन को और वामपंथ को उपर्युक्त शृंगापत्ति से बचा सकती है।

आजकल राजनेता अक्सर चुनाव प्रणाली को सुधारने की बात करते हैं। हिंसा की प्रवृत्ति पर अफसोस प्रकट करते हैं, मगर स्वयं इन गलत साधनों का प्रयोग करने से बाज नहीं आते। क्या यह सही नहीं है कि दिन-प्रतिदिन चुनाव-प्रक्रिया पर राजनैतिक दलों तथा उम्मीदवारों द्वारा अनाप-शनाप पैसा खर्च किया जा रहा है, गुंडाशक्ति का खुलकर इस्तेमाल किया जाता है? हाल ही में जो चुनाव संपन्न हुआ (१९९१), उसमें धनशक्ति तथा मसल पॉवर का प्रयोग चरम सीमा पर था। राजनीति के अपराधीकरण तथा धनशक्ति के प्रभाव के कारण चुनाव-प्रक्रिया दूषित हो गयी है। बहुत कम मतदाता चुनाव केन्द्रों पर जाकर वोट देते हैं। ग्रामीण इलाकों में बूथों पर जबरदस्ती कब्जा कर इने-गिने लोग ठप्पा मार कर 'मतदान' को पूरा करते हैं। हमारे नौजवानों को पच्चीस-तीस साल पहले क्या स्थिति थी, इसका पता नहीं है। पहले चुनाव कैसे लड़े जाते थे, इसका विस्मरण जब पुराने नेताओं को हुआ है तो नये मतदाताओं को इसके बारे में जानकारी कैसे होगी? इस परिप्रेक्ष्य में 'लोहिया और फर्रुखाबाद का उपचुनाव' यह साही जी का लेख, मेरी राय में, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसलिए मैं चाहूँगा कि इस संग्रह के युवा पाठक इस लेख को गौर से पढ़ें और उसका मनन करें।

श्रीमती कंचनलता साही का मैं तहेदिल से आभारी हूँ कि इस पुस्तक की भूमिका लिखने की जिम्मेदारी उन्होंने मेरे ऊपर सौंपकर मुझे साही जी के लेखों को पढ़ने का अवसर दिया।

नई दिल्ली
१८-७-९१

—मधु लिमये

अनुक्रम





सामाजिक परिवर्तन की दिशाएँ और लोकतंत्र की कसौटियाँ

बुद्धिजीवियों की एक आदत होती है इन्तजार करने की। इस इन्तजार में वह तात्विक धैर्य होता है कि अगर वह कुछ करे नहीं, तो कम-से-कम इन्तजार करे। लेकिन वह वक़्त आता है जब प्रतीक्षा भी प्रतिध्वनियों की तरह लगती है, जो कहती है कि इतिहास हमको इतना समय देगा ही नहीं कि हम इन्तजार भी कर सकें। मुझे स्मरण आता है : एक बार डॉ० राम-मनोहर लोहिया से मैंने कहा था—डॉ० साहेब, आपके पास इतने नये विचार हैं और आप गाँव-गाँव घूमते रहते हैं, पार्टी बनाने का प्रयास करते हैं। इससे तो अच्छा यही है कि आप ब्रिटिश म्यूजियम में चले जायें और वहाँ बैठकर कार्ल मार्क्स की तरह कुछ किताबें लिख डालें। पार्टी बनाने का काम तो और लोग भी कर सकते है, लेकिन विचार देने का काम नहीं कर सकते, तो डॉक्टर लोहिया ने मुझे जवाब दिया—कहा, प्रोफ़ेसर! मैं जल्दी में हूँ। मार्क्स को इतिहास ने सौ बरस दिये। मुझको इतिहास इतना समय देगा नहीं।

यानी मार्क्स ने जब तक सोचा और जब उसके विचारों का कुछ अंश सम्भूत होने लगा और जब सम्भूत होने के साथ-साथ उसकी कमियाँ दिखाई पड़ने लगी, उस सब में क़रीब सौ वर्ष लगा और इतना वक़्त इतिहास ने मार्क्स को दिया। तो डॉ० लोहिया का अभिप्राय था कि तब तक बातें इतनी बिगड़ गयी कि जब सोचा हमने कि यह निरर्थक—जैसा लगने लगेगा, इसके आधार पर कुछ बन भी नहीं पायेगा। इसलिए मैं जल्दबाजी नहीं करता। इसके भीतर खाद डाल रहा हूँ, विचार के साथ सक्रियता की भी खाद डाल रहा हूँ।

गाँधी जी ने सक्रियता और विचार दोनों में एक अभूतपूर्व तारतम्यता स्थापित की और जितना वे काम करते थे, उतना ही वे लिखते भी थे और उतना ही बोलते भी थे। फिर भी आज जब मैं कभी गाँधी विचारकों की गोष्ठियों में

११-१०-८२ को गाँधी-लोहिया-जयप्रकाश जयन्ती के अवसर पर पटना में साही जी का भाषण, जो अंतिम भाषण था।

जाता हूँ, तो गाँधी विचारकों में जो गाँधी से जुड़े हुए लोग हैं या जो अपने को जुड़ा हुआ कहते हैं, उनके चेहरे पर भी एक मायूसी देखता हूँ, कि लगता है गाँधी जिसकी वे माला जप रहे हैं, सचमुच बहुत-कुछ अप्रासंगिक हो गये हैं। आदर्श के रूप मे नही, व्यवहार के रूप मे कौन सुनता है ? यह सरकार और यह भ्रष्टाचार और यह बर्बरता और यह हिंसा का बढ़ता हुआ वातावरण; इस सब में गाँधी कहाँ है ? उसकी बात करने वाला—लगता है कि हवा मे बात कर रहा है। फिर कुछ थोड़े निराश हो जाते हैं, कुछ थोड़ी मायूसियत की बातें करते हैं। जो जिद्दी हैं, फिर वे निराश तो नही होते। कहते हैं कि एक कर्बला हुसेन ने चलाई, तो हम भी अकेले ही चला लेंगे। लेकिन इतना तो ये भी मानकर चलते हैं कि हम अपनी हठ से, अपनी जिद् से चला रहे है। किसी गलत प्रवाह का निर्माण या अंत नही हो जाता है। हो सकता है—गाँधी, जयप्रकाश या लोहिया के विचारों मे ऐसा कुछ अंश है जो अकेले पड़ जाने पर भी आदमी में एक तरह के जिद्दीपन का निर्माण करता है कि कोई परवाह नही; हम रुकेंगे नही, चलते रहेंगे।

हमारे मित्र भट्टाचार्य साहब जो आपके यहाँ भी आये थे, बोलने के लिए। वह इलाहाबाद भी गये हुए थे। गाँधी जयन्ती के अवसर पर उनका भाषण—गाँधी भवन, प्रयाग विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में हुआ। तो गाँधी भवन को चलाने वाले प्रोफेसर हमारे मित्र हैं और कुछ विद्यार्थी है हमारे विश्वविद्यालय में, जो गाँधी का अध्ययन भी करते हैं, गाँधी कार्य भी करते हैं और विशेषकर गाँधी अध्ययन। तो मैंने देखा—मैं स्वयं आयोजक तो नहीं था, श्रोता था—इस तरह की प्रतिक्रिया कि जैसी रवि ठाकुर के उस गीत मे है कि अगर तुम्हारी आवाज़ सुनकर कोई नही आता, तो तुम अकेले चलो। और अभी जयप्रकाश के इस गीत की आवाज़ अकेले वाली आवाज़ नहीं है, जो आपने सुनी है। उस समय का गीत है—लेकिन वह जो दूसरा गीत है—मगही में जो था, एक सक्रिय संघर्ष के बीच से निकला हुआ गीत है और अब अपने को जिद्दी और दृढ़ बनाने वाला गीत है। तो यह सोचने की बात है कि इन विचारों मे क्या है जो इस तरह का ज़िद्दीपन पैदा करता है और वह ज़िद्दीपन कितना दरिद्र है, कितना अच्छा है—इसके बारे मे हमको अवश्य सोचना चाहिए और निरन्तर ध्यान में रखना चाहिए।

सच्चिदानन्द जी ने मुझे जो चिट्ठी लिखी है—तो उन्होने कुछ वैसा ही वाक्य चिट्ठी में भी लिखा था कि जो अभी मैंने कहा कि ऐसा लगने लगा है कि किसी पूजा के रूप मे हम लोग साल भर में मिल लेते हैं और कुछ

जयप्रकाश की बातें कर लेते है और फिर चुप बैठ जाते हैं। फिर उन्होंने यह सोचकर मुझे लिखा था कि हो सकता है कि आपको ऐसा लगे, लेकिन ऐसा है नही। आप आइये जरूर। और हम सब यह सोच रहे हैं कि वह एक औपचारिक पूजा मात्र नहीं होना चाहिये। चिट्ठी पढ़कर मुझको लगा कि जैसा मैंने कहा कि परिस्थिति ऐसी बनती जा रही है कि एक तरफ़ देश की हालत प्रतिदिन और अधिक खराब होती जा रही है और दूसरी तरफ़ प्रतीक्षा से ज्यादा हाल आसेब का है—ऐसे में आप में एक तरह की बेचैनी शुभ लक्षण है। मैं समझता हूँ कि इस तरह की बेचैनी बिहार में अधिक है। उत्तर प्रदेश का तापक्रम यहाँ से कुछ ठंडा है, लेकिन अन्य प्रान्तों में भी बेचैनी है और यह बेचैनी अलग-अलग रास्ते मे भी जा रही है।

कभी-कभी सोचता हूँ कि चिकमंगलूर से चुनाव जीतने वाली इंदिरा गाँधी को जिस समय जिसने चुनौती दी कि एक आदमी इंदिरा गाँधी का मंत्री चुना नही गया। उन्होंने डोरा खींच लिया। यह निराशा में ही हुआ होगा। फिर एक चेला ठाकुर नाराज हुआ और ढोल उठाकर चला गया। लेकिन इस सब कुछ का कुल मतलब इतना ही तो है कि मेरी समस्या घर की थी, इस चट्टान को तोड़ने वाला कोई है नहीं। तो, निस्तार इसी में है कि इसके साथ फिर किसी-न-किसी बहाने से हो लो। फ़िलहाल छोटी-मोटी चीजो से टकरायें। इस पर उन्होने अपना आधार मुद्दा बना लिया कि हमारी नाराजगी तो एक छुटभैये से थी। जब उसे हटा दिया गया, उसको सजा दे दी गई, तो मिसेज इंदिरा गाँधी से क्या झगड़ा। और इसके बहुत से कारण हैं—इस प्रकार अपने मन की बेचैनी को जान-बूझकर छोटा करने के, उसमें भी एक हताशा है। फिर भी जब हम यह कहते हैं कि अब हम दल के विरोधी हो गये हैं, अब हम कुछ भी विचार नही चाहते है और स्वर इस तरह रहता है कि असल में सम्पूर्ण क्रान्ति तो हमने इसलिए करी थी कि यह हमारे मुहल्ले का दारोग़ा बदल जाय तो फिर हमें कोई आपत्ति नहीं है। और अगर इस दौरान दारोग़ा बदल दिया जाय तो हम कहेंगे : अब भाई देखिये, झगड़ा तो इसी को लेकर था, सताता तो यही था। यह तो चला गया, अब हमारे मतलब का दारोगा आ गया, हमारी जात वाला आ गया या जो भी आ गया, अब हमारा कोई झगड़ा नही है। हम फिर अपनी सम्पूर्ण क्रान्ति नही करेंगे। तो ऐसा राजनैतिक आचरण, सामाजिक आचरण हम उदासी या निराशा के कारण करते हैं। फिर एक तरफ़ हम अपनी गहरी बेचैनियों को, अपनी गहरी चिन्ताओं को जान-बूझकर के छोटा करते हैं,

क्योंकि गहरी चिन्ताओं का कोई समाधान दिखाई नहीं देता। वे फिर वही निराशा के अन्धकार को जनम देंगी। और छोटी चिन्ताओं से, जिन चिन्ताओं का समाधान निकल सकता है—दारोग़ा का ट्रांसफर तो हो ही सकता है, प्रधान मंत्री का ट्रांसफर तो नहीं हो सकता। तो दारोग़ा ही के ट्रांसफर पर सारा प्रोग्राम बना लो। ये देखिये ! और भी इसके लक्षण पैदा होते हैं। जैसे दस, पंद्रह, बीस, पचीस, सौ क्रांतिकारी या क्रांति की इच्छा वाले, सामाजिक परिवर्तन वाले गिरोह जब ये ट्रान्सफर होते हैं, तब वे कहते हैं—'हमसे जो टकरायेगा, वह चूर-चूर हो जायेगा'। हो सकता है, फिर ऐसा हो। लेकिन ऐसा भी तो हो सकता है कि यह पूरी लहर चट्टान से टकराये और चट्टान तो हिले नहीं, लहर ही चूर-चूर हो जाए। सभी क्रांतिकारी आंदोलनों में टूट (Split) होने लगते हैं और एक-दूसरे पर—तुम कायर निकल गये, तुम गद्दार निकल गये, तुम्हारी मति भ्रम में पड़ गयी—ये आरोप-प्रत्यारोप होने लगते हैं। बड़ी-बड़ी क्रान्तिकारी पार्टियों में यह हुआ है और इसके भी इतिहास के उत्थान और पतन के दृश्य बहुत आसानी से हम लोग देख सकते है। भगतसिंह, चन्द्रशेखर आजाद जैसे लोग, जब गांधी जी का आंदोलन कुछ समय के लिए द्वन्द्व और निराशा में गुजरने लगा तो, क्रान्तिकारियों ने शहर में एक धमाके के साथ इस बात की घोषणा की कि अब ऐसे नहीं होगा। जब हम टकरायेंगे, तब ,होगा। लेकिन जब इस देश को जितना वे जगाना चाहते थे, उनके आवाहन से नहीं जग पाया तो खुद उन्हीं क्रांतिकारियों में आपस में आरोप-प्रत्यारोप होने लगे कि 'यह ब्रिटिश खुफ़िया है, यह ब्रिटिश खुफ़िया है। फिर भी समझ में नहीं आता कि असफल हम हुए क्यों ? तो, अगर असफ़ल हम हुए हैं या हमने जो आंशिक उद्देश्य रखा था, उसकी आंशिक पूर्ति कर सके हैं—पूरा सपना हम नहीं प्राप्त कर सके—फिर कोई-न-कोई इसका जिम्मेदार होगा। अगर कोई जिम्मेदार है, तब तो जो भीतर में छुपा हुआ शत्रु होगा, वह जिम्मेदार होगा। और, हममें से कई आसानी से हो भी जाते हैं। इस प्रकार के सारे लक्षण अगर हम इतिहास में जाएँ तो जिन लोगों के ऊपर जिम्मेदारी है सामाजिक परिवर्तनों की, उनमें ये लक्षण मिल जायेंगे। जिसके कारण मैं कह रहा हूँ कि बहुत मिल जायेंगे, साथ ही अंधकार और निराशा के चित्रण अधिक हैं। लेकिन यह मैं नहीं समझता हूँ कि अंधकार और निराशा का चित्रण एक सम्पूर्ण सत्य है, क्योंकि इसमें कहीं-न-कहीं या तो वही जिद्दीपन है कि ठीक है, अकेले पड़ जायेंगे तो पड़ा करें। डॉ० राममनोहर लोहिया ने एक मरतबा यह सिद्धान्त बनाया

कि उनकी पार्टी के कुछ लोग जिस सरकार में है, उस सरकार ने मजदूरों पर गोलियाँ चलायीं। उन्होंने सलाह दिया कि जो लोग अपने को समाजवादी दल के क्रांतिकारी कहते हैं, वे इस सरकार से अपना समर्थन खींच लें, अलग हो जायें। उनमें से बहुत से ऐसे थे जो तैयार नहीं थे समर्थन खीचने के लिए, क्योंकि उनको कुछ लाभ मिल रहे थे। तो, परिणाम यह हुआ कि उनमें से बहुत से बजाय लोहिया की बात मानने के पलटकर के कम्युनिस्ट पार्टी में, कांग्रेस पार्टी मे चले गये।

अधिकांश जो सोशलिस्ट पार्टी वहाँ की थी, उन लोगो ने सलाह दी तो लोहिया नही डिगे थे। जिस पर उन्होंने इसका अर्थ विराट निराशा सोचा था। जिस पर उन्होने उन लोगों को सलाह दी कि जब तुमको लगे कि अब कहीं कुछ नहीं दिख रहा है और जिन पर कल तक भरोसा किया, वह भी हट गये, तब तुमको किस मन से सोचना चाहिए और किस प्रकार सोचो। और, मैं समझता हूँ कि आज सामाजिक परिवर्तन चाहने वालों को, क्रांतिकारियों को निराशा। इस सबसे डरना नही चाहिए और न इससे कतराना चाहिए। मैं इसलिए कह रहा हूँ कि जिन-जिन लोगों ने बड़े-बड़े परिवर्तन के सपने देखे हैं—गांधी जी भी अक्सर इस तरह के वाक्य का इस्तेमाल करते रहे है—उनमें भी सिर्फ अंधकार है। लेनिन ने भी इस तरह के जुमले इस्तेमाल किये हैं। मैंने लोहिया का उदाहरण आपको दिया। जयप्रकाश जी ने भी अस्पताल में एक वाक्य कहा था—'जिन्दगी भर ठंडा लोहा ही पीटता रहा हूँ।'

क्रांतिकारी या सामाजिक परिवर्तन चाहने वाले जिस समाज में परिवर्तन चाहते हैं, उसकी प्रकृति को समझने के लिए बहुत बेदर्दी के साथ चुनाव करे। किसी भ्रान्ति को दिमाग में रखकर नही करना चाहिए। इससे लाभ यह होगा कि न केवल जिद्दीपन, बल्कि जिद्दीपन के साथ-साथ समझ—यह भी उनकी कार्य-प्रणाली में अधिक-से-अधिक विकसित होगी। आज भी मैंने सामाजिक परिवर्तन का ही जिक्र नही किया; मैंने जो सामाजिक परिवर्तन चाहा है, उनके स्वयं की उस समय की मानसिक स्थिति और उनकी जो भावनात्मक और मानसिक समस्याएँ हैं, उनका भी जिक्र किया, क्योंकि वह उनके चरित्र के और उनकी दृढ़ता के और उनकी समझ के उदाहरण हैं जो मैंने प्रस्तुत किये। दुनिया के किसी भी मुल्क में लोकतंत्र ऐसा नही है कि उसे कहा जा सके कि यह संसार का आदर्श राज्य स्थापित है।

क्रांतिकारी या सामाजिक परिवर्तन चाहने वालों को पहली बात तो

समझने की यह है कि लोकतंत्र राजनैतिक ही नही, सैद्धान्तिक भी होता है। एक समय मे यह प्रश्न इतना मथित करने वाला था कि सामाजिक परिवर्तन चाहने वालों को, खास तौर से जिन लोगों ने रूस में क्रांति की और जिन लोगों ने चीन मे, उन लोगो ने कुछ इस तरह दिमाग में लगाया कि प्रजातंत्र के समय का लोकतंत्र—इसे अधूरा समझो—अपर्याप्त है। फिर जो सामाजिक परिवर्तन होगा, वह इस लोकतंत्र को पूरा करेगा। यह जो भी हो, जनता के हाथ का लोकतंत्र नही था, जनता का जनतंत्र नही था। इस जनता के जनतंत्र को अलग करने के लिए, जाहिर था, कुछ चुने हुए लोगों के जनतंत्र से अलग करने के लिए, यह जनता का जनतंत्र है—'पीपुल्स डेमोक्रेसी' यह नारा दिया गया। फिर नारे के अनुसार कुछ आचरण के नियम बनाये गये, कुछ संगठन बनाये गये, कुछ क्रान्ति की अवधारणाएँ बनायी गयी और अब फिर उसके अनुसार १६४१ तक आते-आते उसमें कुछ परिवर्तन हुए जिसके अनुसार यह माना गया कि चीन में खाली जनता का जनतंत्र स्थापित हुआ है। तब से लेकर चीन में अब तक क़रीब तैंतीस, पैंतीस वर्ष हो रहे हैं। इधर इस बीच में हमने यह देखा कि फिर आज से करीब तीन-चार वर्ष पहले यह जनता का लोकतंत्र जो शुरू यहां से हुआ था कि कुछ चुने हुए लोगों के हाथ में यह लोकतंत्र है, इसके आधार को नीचे तक, जनता तक ले जाना है। इन तीस वर्षों के प्रयास के बाद हम इस स्थिति मे आये कि तब यह कहने लगे कि जनता को छोड़ दो, यह जनतंत्र अब इने-गिने वर्गों के साथ में भी नही रह गया, यह चार तिकड़मियों के चंगुल में हो गया। अगर हम पूरे चीन के इतिहास पर जेहन डालें तो इसके इंक़लाब का एक बहुत जबर्दस्त प्रयास हुआ।

अगर हम तरह-तरह के विश्लेषण से कहें कि यह कुछ वर्गों का था और मान लें कि चीन में उस वक्त सैंतीस करोड़ आदमी थे, पैंतीस करोड़ आदमी थे—मुझे संख्या नहीं याद है। उस पैंतीस करोड़ मे एक चुना हुआ वर्ग मान लो एक करोड था जिसके हाथ में सत्ता राजतंत्र के समय में थी। फिर यह सत्ता धीरे-धीरे सिमटने लगी और एक तरह से सब कटकर उसके भागीदार पचास लाख हुए, बीस लाख हो गये और फिर उसके बाद माओ-त्से-तुंग ने एक इंक़लाब किया। माओ-त्से-तुंग के पीछे चीन के अधिकांश नौजवान, अधिकांश सताये हुए लोग, अधिकांश ग़रीब बेचैन और तड़पते हुए लोग, जिनकी यह अभिलाषा थी कि यह सिकुड़ता हुआ जनतंत्र किसी तरह फैलाया जाय, फिर एक नैतिक ढंग से बाँट दिया जाय। बड़े-बड़े उन्होंने बलिदान किये और फिर उसके बाद एक उचित चुनाव-विधि के बहुत सारे नियम उस समय बनाये

गये। सारे ग्राम के कम्यून होंगे और इस प्रकार से सारा देश जिससे गाँव-गाँव के अन्दर काम होगा। अगर आप आज भी तस्वीर देखें चीन की, तो लगता है जैसे जयप्रकाश जी कहते थे कि हर गाँव में एक जन-समिति होगी, लगभग उसी प्रकार से जब चीन में संघर्ष चल रहा था, तब यह तस्वीर थी और लोगों ने यह कहा कि यह जनतंत्र डेमोक्रेसी है। अब फिर इस तरह का प्रयास किया जा रहा है। दूसरा भी एक कारण है कि जैसे चीन में जिस तरह समस्या आज है कि जैसे—यहाँ पर बहुत विस्तार में जाने की गुंजाइश नहीं है—उदाहरण थोड़ा-सा दे रहे हैं—विश्वयुद्ध में जब फ्रांस ने फिर से नारा दिया लेनिन ने कि समस्त सत्ता सोवियत के हाथ में होगी। 'सोवियत' शब्द का अर्थ रूसी भाषा में लगभग वैसा है जैसा पंचायत। लगभग उसी से मिलता-जुलता शब्द है, जिस तरह की चर्चायें जयप्रकाश जी ने की है। सोवियत का नाम अभी भी रूस के नाम मे लगा हुआ है—यूनियन ऑफ सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक। यह माना गया कि यह केवल यूनियन ऑफ सोशलिस्ट रिपब्लिक नहीं है, यह यूनियन ऑफ 'सोवियत' सोशलिस्ट दोनों शब्द हैं, क्योंकि सोवियत का प्रयोग सत्ता के विकेन्द्रीकरण को नीचे तक पहुँचा देने और सोशलिस्ट से था। यह 'सोवियत' शब्द वस्तुतः मार्क्सवादी भाषा में कभी नहीं था और आप इंकलाब के पहले की लेनिन की यात्रा पढ़ें, तो उसमें कहीं 'सोवियत' शब्द नहीं मिलता है। यह सोवियत आया कहाँ से ? सोवियत आया इस प्रकार से कि १६१४-१८ तक के बीच जो युद्ध हो रहा था, उस विश्वयुद्ध में जिसमें जर्मनी-अमेरिका— रूस-अमेरिका तो बाद में आया—जर्मनी-इंगलैण्ड, फ्रांस, रूस, योरप के सभी देश शामिल थे। तो फिर उस समय ज़ार राजा था। रूस जर्मनी का मुक़ाबला नहीं कर पाया। जर्मनी की सेना काफ़ी दूर तक आ गई। मास्को के दरवाज़े तक पहुँच गई। दूसरी तरफ रूस की आर्थिक स्थिति अंदर-अंदर बहुत ख़राब हो गई। सो परिणाम यह था कि रूस के सिपाही, जो युद्ध क्षेत्र में लड़ते थे, उनको ज़ार तनख़्वाह भी कायदे से नहीं देता था बल्कि एक स्थिति यह आ गई कि एक गन्दी रकाबी, एक तामलोट हाथ में, न जूता है, न कपड़ा कायदे का है और कहा जाये देश के घातक शत्रु से लड़ो। और इससे बहुत से रूसी सिपाही जाड़े में मारे ही गये। मुकाबला नहीं कर सकते थे और जब इसमें से इतने भयंकर जाड़े में थके-माँदे नंगे पैर चले जा रहे हैं इन्कलाब के नाम पर और पीछे तीन आदमी गोली लगाये बैठे हैं। अफ़सर ने हुक्म दिया आगे बढ़ो। अगर लौटते है तो यह गोली मारता है, आगे बढ़ते हैं तो वह गोली मारता है और पेट खाली है, तीन दिन से खाना

नहीं मिला है। ऐसी दशा में १६१७ तक आते-आते रूसी सेनानी तंग आ गये और यह पिछले रूसी इन्क़लाव की शुरुआत थी। इस विद्रोह का पहला सबक यह बना कि जो रूसी सैनिक थे, उन्होंने अपने अफसर को गोली मारना शुरू किया। पहले तो उन्होंने हुक्म-उदूली करना शुरू किया। उन्होंने कहा—जाओ। इन्होने कहा—वाह ! तुम बिना ब्रेकफास्ट किये सुबह उठते नही और हमको कहते हैं, जिन्होंने सात दिन से खाना नहीं खाया है, कि युद्ध करने जायें। अब यह नही चलेगा। उनका विद्रोह हुआ। उस विद्रोह को जितना ही दबाने की कोशिश की गई, उतना ही वह विद्रोह उग्र होता गया। और एक स्थिति यह आई कि जब रूस के सिपाही ने यह तय कर लिया कि सेना में अफ़सरों की जरूरत नही है, ये सिर्फ़ अय्याशी करते हैं—खुद तो लड़ते नही है और ऊपर से बैठकर हुक्म चलाते हैं और केवल भ्रष्टाचार करते है। खैर यह चलचित्र की तरह कल्पित बात नहीं थी, जायज थी। लेकिन जो कठोर अनुशासन के नाम पर शोषणकर्ता थे, वे बेजा थे यह इन्कलाब की शुरुआत थी। गारद में अधिक इन्कलाब सुने गये, उलट-पलट ज्यादा हुई। अन्य स्थानों पर भी हुआ, हर जगह पर हुआ। तो सिपाही ने अपने अफ़सरों को मार डाला या खदेड़ कर भगा दिया और फिर सेना कैसे चलेगी, इसके लिए उन्होने संगठन किये—एक कमेटी बनाई। कमेटी का नाम 'सोवियत' रखा गया। यह जनता की सोवियत थी। इस सोवियत के जरिये से आर्मी चलेगी। अब इसमें कोई जनरल, मेजर, कर्नल होगा ही नहीं। अब केवल समितियाँ होगी। इसकी कमेटी, उसकी कमेटी—ये सब ऊपर से नीचे तक एक जैसे होगे। यह सोवियत है। सबसे पहले रूस में सोवियत इन्कलाब के समय मे थे। इस सोवियत के स्तर पर जितने उस समय के जार के द्वारा सताई हुई अन्य पार्टियाँ थी, लेनिन के भी पूर्व की थी—अंडरग्राउंड डेमोक्रेटिक पार्टी थी, मेनशेविक पार्टी थी, करेन्जकी की पार्टी थी, सोशलिस्ट डेमोक्रेटिक, सोशलिस्ट रेवोल्यूशनरी पार्टी थी, एक निहलिस्ट पार्टी थी—बहुत सारी पार्टियाँ थी—उनमें से अधिकांश तो, चूँकि जार का राज्य था, इसलिए कोई पार्टी लीगल नही थी। सभी अंडरग्राउंड थीं, सभी गैर-कानूनी थीं। इन सभी पार्टियों ने कहा कि बिना अफसरों के आर्मी चल ही नही सकती। इसलिए ये आश्चर्य से देखते रहे कि ये हो क्या रहा है ! लेनिन उस समय जिनेवा में था। वह सब छोड़-छाड कर दौड़कर आया और उसने एकदम यह नारा दिया कि मार्क्सवादी इन्कलाब के अन्दर तो सोवियत के ऊपर अन्जाम है और उसी समय उसने इन्कलाव की शुरुआत की, लगभग

उसी प्रकार से जैसे एक समय में जयप्रकाश जी ने जब देखा कि जगह-जगह कमेटियाँ बन रही हैं, तब उन्होंने कहा कि यह जनसंघर्ष समितियाँ ही इन्क़लाब की वाहक है। इस तरह से सब जगह यह सोवियत बनी।

दो-तीन बरस में जब लेनिन की संस्था संगठित हो गई, तो सोवियत भंग कर दी और एक नयी सेना संगठित हुई जिसमें सोवियत का नाम-निशान नहीं था। रूस की लाल सेना (रेड आर्मी) को बनाने का काम ट्राट्स्की ने किया—सोवियत को भंग करते समय उस लाल सेना को लेनिन ने यह कहा कि यह राजनैतिक है और देश का कल्याण करेगी—यह आर्मी नहीं है। फिर इस नाम पर सोवियत रिपब्लिक जो है, आर्मेनिया की बन गई, जार्जिया की बन गई, युक्रान की बन गई और ये सोवियत रिपब्लिक मिलाकर यूनियन आफ़ सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक बन गई, और फिर यह बताया गया कि इसी प्रकार यह नीचे तक सोवियत बनेगी। आज की स्थिति में यह है कि विकेन्द्रीकरण के उस सिद्धान्त को भी जो थोड़ा-बहुत लेनिन ने थोड़े समय में चलाने का प्रयास किया था, क्योंकि उसमें वह प्रभाव नहीं आया, इसलिए उसको उतने में ख़त्म करके स्टेलिन को दे दिया गया। क्योंकि जो समितियाँ बनी थी कि यह आर्मेनिया के लोगों की जनसमिति है, यह वस्तुतः नेशनल नहीं हो सकती है जिस प्रकार से कि जो मुख्यमंत्री बनता है बिहार में या उत्तर प्रदेश में, जब दिल्ली उसको नामजद करेगी तो कहने को तो रहेगा कागज पर कि यह बिहार के लोगों का प्रतिनिधि है, लेकिन असल में होगा नहीं। तो स्टेलिन का समय आते-आते वह सोवियत का आदमी धीरे-धीरे उससे भी जबर्दस्त केन्द्रीकरण का रूप हो गया। अब यह प्रश्न पूछने वाले यह प्रश्न पूछने लगे कि वस्तुतः वह जो सपना था, रूसी क्रांति का, कि हम लोकतंत्र को नीचे तक ले जायेंगे, वह पूरा हुआ भी कि नहीं? फिर आज बहुत से लोगों को चीन से इस बात पर शिकायत है कि यह सब जो संशोधन लागू है, फिर जो मार्क्सवादी सारी दुनिया में है कि वह ट्राट्स्की जिसने शुरू किया सोवियत का खात्मा; लाल सेना से जब उसकी टकराहट स्टेलिन से हुई, तो ट्राट्स्की ने तमाम किताबें लिखी, यह दिखाते हुए कि कैसे जो मार्क्सवाद का लोकतांत्रिक रूप था, नीचे तक जानेवाला, उसे स्टेलिन ने तानाशाही के हाथ में सुपुर्द कर दिया, नौकरशाही के हाथ में सुपुर्द कर दिया और धीरे-धीरे जो नौकरशाही थी, वह ऊपर तक केन्द्रित होते-होते कुछ लोगों के हाथ में सत्ता चली गयी, लगभग उसी प्रकार जिस प्रकार का आरोप आज माओ-त्से तुंग पर है, आज के चीन पर है कि जिस चीज को हमने बहुत

नीचे से फैलाकर शुरू किया था, वह धीरे-धीरे ब्यूरोक्रेसी में परिणत हुआ। ब्यूरोक्रेसी के बाद पार्टी ब्यूरोक्रेसी में परिणत हुई, फिर पार्टी ब्यूरोक्रेसी से भी सिमटते-सिमटते माओ-त्से-तुंग के चारों तरफ़ रहनेवाले उनके तीन-चार आदमी में और परिणाम यह हुआ कि काम चाहे हुआ, चाहे नहीं हुआ— मगर लोकतंत्र की धारणा समाप्त हो गई।

खैर, यह विश्लेषण हम सामाजिक परिवर्तन वालों के लिए दो ढंग से कर सकते हैं। या तो ऐसे हम विश्लेषण करें कि देखा तुमने प्रोफ़ेसर, तुम खुद ही स्वीकार करते हो कि हर बार जब क्रांति होती है, तब वह दाँव ख़ाली चला जाता है, इसलिए परिवर्तन की बात करना असंगत है। मेरे इस विश्लेषण का या इस तरह का विश्लेषण और लोग भी कर सकते हैं फिर उससे स्पष्ट होता है कि बदलता कुछ नहीं है, सिर्फ आदमी बदलते हैं और ये नारे सब धोखेबाज़ी के हैं। लेनिन ने धोखेबाज़ी का नारा दिया, फिर ट्राट्स्की ने धोखेबाज़ी का नारा दिया, फिर स्टैलिन ने दिया, माओ-त्से-तुंग ने दिया। वैसे ही तुम यह भी मानकर चलो कि गांधी ने धोखेबाज़ी का नारा दिया, जनता-जनता की बात की और सत्ता सौंप दी जवाहरलाल को और जवाहरलाल ने धीरे-धीरे उसे केन्द्रित कर दिया और जिस तरह हम इन्कलाब के फ़ेलियर्स की असफलता की गाथा बता रहे हैं, उसी तरह से यहाँ का इन्कलाब भी इसी तरह फेल हो गया। आखिरकार जवाहरलाल कोई आसमान से तो टपके नहीं। जवाहरलाल को तो जानबूझकर आँख मूँदकर अपना सत्तात्मक ही नहीं, नैतिक उत्तराधिकारी घोषित करके गांधी ने कहा था कि जो मुझसे नहीं हो सका, वह अब यह करेगा मेरी ओर से। अब अगर जवाहरलाल ने वह समस्त गांधीवादी सत्ता जो जनता तक थी, उसको समेटकर धीरे-धीरे ब्यूरोक्रेसी को सौंप दिया, फिर ब्यूरोक्रेसी की सत्ता धीरे-धीरे सिमटकर जिन दस चार के हाथ में चली गई या नहीं नेहरू परिवार-विशेष ने खींच ली, फिर यहाँ तक सिमटती चली गई कि उसके लिए अंततः जैसे मार्क्स जिम्मेदार है, जैसे माओ-त्से-तुंग जिम्मेदार है, जैसे लेनिन जिम्मेदार है, वैसे गांधी।

लेकिन मैं ऐसे नहीं कहता। इतिहास के विकृत हो जाने को या कभी-कभी विकृत हो जाने की प्रक्रिया को हम व्यक्ति से थोड़ा अलग करके देखें, तब हमको समझ में आयेगा कि आज लोकतंत्र में सामाजिक परिवर्तन की अतिरिक्त जिम्मेदारी हमारे ऊपर क्या है। रूसो ने या फ्रांस के अन्य विचारकों ने जो अठारहवीं शताब्दी में हुए, पहली बार सपना देखा कि अपने

प्रयास से समाज को बदल दें। उससे पहले तो लोग जानते ही नही थे कि जो समाज है, यह किसी के बूते का है कि समाज को बदल दें! यह सब सामाजिक परिवर्तन तो तभी हो सकता है जब हम आप पहले सोचें कि यह हमारे-आपके किये की चीज है कि सत्तर करोड़ के समाज को हम बदल दें। अगर हम यह मानकर चलते हैं कि यह सब तो अनन्त काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता जायगा और उसमें हम-आप क्या कर सकते हैं? तब तो फिर कुछ नही हो सकता।

अठारहवीं शताब्दी में लोगों ने पहली बार यह कल्पना करना शुरू किया कि अब हमारी जानकारी, हमारी बुद्धि, हमारे सोचने-समझने का ढंग इतना हो गया और अब हमारी यंत्र-विद्या भी ऐसी हो गई कि हम चाहें तो बदल सकते हैं, केवल संकल्प-शक्ति और संगठन की जरूरत है। यह अगर मिल जाय और समझ में आ जाय कि दिशा यह दिखती है, फिर वह लोग उस रास्ते से चलकर पहुँच सकते हैं, फिर यह सम्भव है कि कुछ संगठित लोग या अधिकांश संगठित लोग समाज को बदल दें—यह बात उन्नीसवीं शताब्दी के रूसो, वाल्टेयर जैसे विचारकों की है। रूसो ने जब उसके अनुसार तीन नारा लगाया, लोकतंत्र के भी तीन नारे हुए—स्वाधीनता, समता और भ्रातृत्व। मैं समझता हूँ कि आज भी अगर मुझसे कोई नारे या आदर्श चुनने को कहे तो इसके अतिरिक्त दूसरा नही है कि सबमें स्वाधीनता होनी चाहिए, सबमें समता होनी चाहिए, सबमें भाई-चारा। अगर मैं गाँधी जी के बारे मे या रूसो के बारे में कहूँ, और मेरे बीच में तो कम-से-कम दो सौ वर्षों का अन्तर पड रहा है, तो आज भी इससे अधिक स्पष्ट आदर्शों की कल्पना नही की जा सकती—कम-से-कम समाज को लेकर नही। यह पूर्ण सत्य ऐसा महत्वपूर्ण रहे कि जिन्होने स्पष्टीकरण किये कि जिसके जरिये हम उन समाजों को अलग कर सकें जहाँ यह पूर्णतः तो छोड़ दो, जरा भी नही है, अंशतः भी नहीं है, जहाँ न स्वाधीनता है, न समता है, न भ्रातृत्व। फिर ऐसे समाज हो सकते हैं कि जिनमें एक है, बाकी दोनों नही है।

जैसे मुहम्मद साहेब ने जो इस्लाम का इन्क़लाब किया, उसमें सबसे अधिक तो भ्रातृत्व है; हर इन्सान भाई है और खुदा के मानने वाले सब भाई हैं इसलिये इस्लाम में भ्रातृत्व आज भी स्वाधीनता और समानता के मुकाबले में कही ज्यादा महत्वपूर्ण दिखाई देता है और जिसकी वजह से बहुत से लोगों को यह लगता नही है कि ये समाज या ये लोग कैसे हैं, इनको समझा जाये। ये अतिरिक्त से लगते हैं क्या? इसलिए कि योरोप के इतिहासकारों ने इस्लाम

के इतिहास को समझने की कोशिश नहीं की और ज्यादातर विचार इन्कलाबों के बारे में हमको यूरोप से ही मिलते हैं। लेकिन इस्लाम में भ्रातृत्व को मुख्य माना था और बाकी स्वाधीनता और समता को आनुषंगिक। इस्लाम में जो चार खलीफा हुए, उन्होंने जो आदर्श अपने सामने रखे थे, भ्रातृत्व से समता इस तरह जुड़ी हुई है कि उसका आर्थिक स्वरूप तो दरिद्र ही होगा, इसलिए ऐसे खलीफा हुए जो कि कुरान लिखते थे, गरीब आदमी की तरह रहते थे और इन्साफ करते थे। ऐसे खलीफा हुए जो चार दरिद्र खलीफा अबू बक्र इत्यादि गिने जाते हैं, उन्होंने अपनी व्यक्तिगत जिन्दगी जैसी रखी, वैसी क्या कोई गांधीवादी आज के संदर्भ में रखेगा मिनिस्टर हो जाने के बाद तो भ्रातृत्व को लेकर इस्लाम चला। इसमें धीरे-धीरे उसका वह समानता वाला स्वरूप भी खत्म हो गया और स्वाधीनता का स्वरूप बहुत दूर तक रखा ही नहीं गया। तो परिणाम यह हुआ कि आज भी जो भ्रातृत्व की परिकल्पना है, वह कट्टरपना कायम करती है। जिन्ना साहब के बाद से पाकिस्तान में कितनी तरह के भ्रातृत्व और वे किस तरह अपना तंत्र स्थापित करना चाहते हैं। उससे भी ज्यादा परेशानी किसी ऐसे देश की है जहाँ के बारे में आप लोगों को ज्यादा जानकारी नहीं है, वह है तुर्की, जहाँ के मुस्तफा कमाल पाशा हैं। जब पुराने ढंग का खलीफा राज्य समाप्त हुआ तो उसकी जगह डेमोक्रेसी की जगह अपनी तरह की तानाशाही कायम की। बहरहाल, जिन लोगों में समानता और भ्रातृत्व के सामाजिक अर्थ में उन्होंने कुछ नये ढंग के रहन-सहन, बुर्का इत्यादि हटाना यह सब शुरू किया और अभी भी तुर्की उस लोकतंत्र के प्रयोग में संतुलित नहीं हो पाया है।

लोकतंत्र में ये जो तीनों हैं, तो भी निश्चय ही इस बात की कठिनाई पैदा होती है कि तीनों में से एक प्रधान हो जायगा और तब उस प्रधानता के द्वारा बाकी दोनों इतने गौण हो जाएँगे कि जो मिला-जुला रूप है, वह समाप्त हो जायगा। एक-दूसरे से कम है, जैसा कि इस्लाम में हुआ, या खुद उसी के आधार पर जो इन्कलाब फ्रांस में हुआ उन्नीसवीं शताब्दी में जिसको कि दुनिया में जनतंत्र का बहुत बड़ा मूवमेन्ट मानते हैं। जिस समय बास्टील का कारागार तोड़कर पेरिस की इन्कलाबी जनता ने वहाँ के कैदियों को मुक्त कर दिया और अब अत्याचारी राजाओं और जमीन्दारों को सजा देना शुरू किया और वह सजा इतनी दूर तक गई कि पेरिस की गलियाँ खून से लाल हो गईं, नालियों में खून बहने लगा। वह जो फ्रांस की राज्यक्रांति हुई थी, आज भी उसका वर्णन जब हम पढ़ते हैं, तो उसमें से काफ़ी रोमांच पैदा करने वाली

चीजें और साथ ही चिन्ता पैदा करने वाली चीजें दोनों मिलती है। जिस तरह रूस की क्रांति हमारे मन में कुछ तस्वीरें जगाती है और कुछ प्रश्नचिह्न। और अब लगभग आज नहीं लगता है कि कोई भी क्रांति सोलह आने होगी। एक समय ऐसा था कि हम लोग अक्सर इस बात का जिक्र किया करते थे कि जैसे माओ-त्से-तुंग ने जब यह तय किया कि स्टील का उत्पादन हमको बढ़ाना है, तो उनके सामने यह समस्या थी कि उत्पादन हम कैसे बढ़ायेंगे। आचार्य नरेन्द्र देव भी इसी के आस-पास गये थे चीन और बहुत लोग चीन गये थे और उन्होंने इसकी रिपोर्ट दी। फिर माओ-त्से-तुंग ने तय किया कि भट्टियाँ जहाँ-जहाँ जो लगा सकते हैं, चलाते हैं, परम्परागत चला आ रहा है, उन्हीं को कुछ थोड़ा हम सुधरा हुआ रूप दे दें और जो भी स्टील बनेगा, वह उन्हीं छोटी-छोटी भट्टियों में बनेगा। केवल स्टील ही नहीं, हथियारों तक के लिए भी माओ-त्से-तुंग ने आरम्भ में यही किया। और एक हद यह थी कि जबकि माओ-त्से-तुंग ने, बल्कि जिद्दन यह कहा कि बड़ा कारखाना बनने में पैसा लगता है, लिहाजा जब तक हम गाँव-गाँव में यह उद्योग नहीं फैला देते, तब तक हमारे लिए अति केन्द्रित कारखाने बनने के साथ गैर-बराबरी, अन्याय, शोषण इन चीजों को जन्म दें और गरीब आदमी हमारे इस अभियान में शामिल नहीं होगा और हम लोगों को रोजगार भी नहीं दे पायेंगे। यह सब कुछ जो आज हम गाँधीवादी कहते हैं उस सबको उन्नीस सौ पचास, बावन, तिरपन में चीन ने किया था। और ये गाँधीवादी कहते थे कि ऐसे व्यक्ति के सामने जो स्वयं अपने को गाँधी का असली उत्तराधिकारी कहता था और उसकी बात सुनी जाती थी। इसके विपरीत एक माओ-त्से-तुंग था जिसे कभी कुछ गाँधी से लेना-देना नहीं था, उसने इन्कलाब के बाद जब शुरू किया, तो अर्थशास्त्रियों के विचार के लिए कई चीजें, कई बातें दीं।

किसी समय जवाहरलाल नेहरू ने जब यह तय किया था—वही स्टील का ही सवाल था—और एक होड़ लग गई थी कि हिन्दुस्तान वाला स्टील बनायेगा या चीन वाला बनायेगा। और अच्छी स्टील, अच्छा-उम्दा फ़ौलाद कौन बनायेगा। क्योंकि फौलाद अक्सर इन्क़लाब का सामाजिक परिवर्तन का नपना माना जाता है या metaphorical है, इसलिए मैं फौलाद की बात कर रहा हूँ। यह केवल इसके प्रतीकात्मक अर्थ में नहीं, ध्येय और तथ्य दोनों की दृष्टि से है। इसलिए बहुत दिनों तक और आज भी गिनती की जाती है कि जो देश जितना स्टील बनाता है, उतना ही वह शक्तिशाली और उन्नत है—जैसे एक स्थिति में मिट्टी का तेल और यह जो पेट्रोल निकालता है, वह प्रगतिशील,

विकसित देश गिना जाता है। आज चीन हिन्दुस्तान से क़रीब-क़रीब दूना फौलाद निकालता है। इसलिए कि जो क्रिया थी हिन्दुस्तान की फौलाद जो टाटा साहेब बनाते थे; उससे कम फ़ौलाद बनता था। आज जो ढलाई भट्टियां भिलाई की है, उनमे से अधिकांश का कुछ थोड़ा और बदलता हुआ रूप है और इसके अलावा बम्बे धीरे-धीरे दूसरे प्रकार के निकल आये।

चीन मे शायद बीच में जो स्थितियां पैदा हुईं, जब चीनी पार्टी का जो आंतरिक विरोध था जिसके कारण जब जनता का समर्थन लेने की बात हुई, जनता को फील (Feel) करने की बात थी, तब गांव-गांव तक क्रान्ति और उद्योग पहुँचाने की बात थी; राजनैतिक परिवर्तन के कुछ अन्य कारण थे, वह स्थिति ख़त्म हो गई तो आज चीन के नेता इसके लिए तैयार हैं कि चीन के दरवाज़े नयी-नयी तकनीकियों के लिए खोल दिये जाएँ और अमेरिका आकर के यहाँ बैठ जाये, या इस्पात के कारख़ाने और उसके साथ वह जो एक राजनैतिक उद्देश्य था कि गांव-गांव में जो उद्योग हैं, उनके आधार पर आप एक-एक कदम रखकर आगे बढ़िये, तो वह छूट गया। हिन्दुस्तान में जो चार कारख़ाने थे—भिलाई, राउरकेला और दुर्गापुर, और चौथा कौन-सा है जो फौलाद बनाते हैं। और यह जो चार बनाते हैं, यह जो नीति तय की गई थी कि फौलाद के मामले में हम न सिर्फ आधुनिकतर हो जायेंगे, बल्कि यह आधुनिक यंत्रशक्ति के द्वारा केन्द्रित रूप से व्यक्त हो जायेगा। हम एक ऐसी स्थिति बनाएँगे कि जिसका निरन्तर विकास होता जायेगा और विकास के फलस्वरूप सामाजिक परिवर्तन होगा। क्योंकि एक सोचने का ढंग यह है कि सामाजिक परिवर्तन अपने से नहीं होता, सामाजिक परिवर्तन वस्तुतः विकास का ही परिणाम है। जैसे-जैसे देश विकसित होता है, जिस मंदगति से विकसित होता है, वैसे-ही-वैसे सामाजिक परिवर्तन। इसमें मार्क्स का सिद्धान्त नहीं है कि इस मामले मे मार्क्स का और योरप के अधिकांश चिन्तकों का एकमत है कि सामाजिक परिवर्तन वस्तुतः आनुषंगिक प्रक्रिया है, आर्थिक विकास की। फिर अगर किसी देश मे, जैसे मार्क्स का हिन्दुस्तान के बारे में जो प्रसिद्ध कथन है कि हिन्दुस्तान की इकानमी ठहरी हुई थी। वह एक एशियन टाइप आज की एशियन इकानमी स्टैगनेण्ट, ठहरी हुई, ठहरा हुआ अर्थशास्त्र, ठहरी हुई आर्थिक व्यवस्था इसलिये ब्रिटिश जो राक्षस थे, उन्होंने आकर जब अपनी दानवी लीला शुरू की, उस दानवी लीला से अंग्रेजों को जो फायदा हुआ हो, सो तो हुआ ही, लेकिन ठहरी हुई जो गति थी, उसमे धक्का लगने से परिवर्तन शुरू हुआ और इस प्रकार घुमाकर अंग्रेजी समाज हिन्दुस्तान के अन्दर

सामाजिक परिवर्तन की प्रथम कड़ी है। यह सोचने का एक ढंग है। लेकिन मैं अभी इस बहस में नहीं जाऊँगा। मैं यह मानकर चलता हूँ कि राजनैतिक चिन्तन और राजनैतिक चिन्तन से उपजा हुआ सामाजिक परिवर्तन का विकल्प या संकल्प आज की दुनिया में हम बिना आर्थिक विकास का इंतजार किये ही कर सकते है। अब आप इस शास्त्रीय अर्थ मे न उलझें कि यह हमारी क्षमता है भी कि नहीं। अब जब हम यह मान लेते हैं तो हमारे सामने मुख्य उद्देश्य यह हमेशा रहना चाहिए कि अगर इन क्रान्तियों से यह जो जनतंत्र को पूरा करने के नाम पर हुई, इसमें तीनों नारे दिये गये, लेकिन इसमे समता को कानूनी समता तक सीमित कर दिया गया कि कानून में सब बराबर हैं और स्वाधीनता इत्यादि को सीमित कर दिया गया और भ्रातृत्व का अर्थ केवल राष्ट्रीय भावना ने ले लिया जब कि आप देखेंगे कि गाँधी जी और जयप्रकाश जी, इन लोगों के विचारों में भ्रातृत्व का अर्थ केवल राष्ट्रीय देशप्रेम नही है। 'भ्रातृत्व' का अर्थ गाँव में फलीभूत एक प्रकार की साझेदारी है, फिर एक मीलों तक जाती हुई धारा है। फिर भ्रातृत्व को इन्होंने केवल राष्ट्रीयता समझा और समानता को इन्होंने नीचा दर्जा दिया। और स्वाधीनता को अखबार निकालो, उसमें अपनी बात कहो, जहाँ चाहो जा सकते हो, तुमको बिना कानून की गिरफ्त के गिरफ्तार नही किया जा सकता। यह सब चीजें इतनी अधिक प्राथमिक हो गईं कि उसके कर्मकाण्ड में जो असमानता थी, जो विषमता थी, वह दब गई। इसी प्रकार जब मार्क्सवादी चिन्तन ने यह तय किया कि फ्रीडम भी एक लिबरल वर्ड ही है और भ्रातृत्व तो फैल गया, इसलिये शोषण को समाप्त करने के नाम पर सम्पत्ति को सरकार को दे दिया जाय, यही सब ख़राबियों की जड़ है और तब समता, समानता और स्वाधीनता के ये सब अपने आप प्राप्त होंगी। भ्रातृत्व और स्वाधीनता समता की अनुचरी की भाँति आ गई।

आज यह हमारा सौभाग्य है कि दुर्भाग्य, कि सामाजिक परिवर्तन की तलाश हम तब करने निकले हैं जब ये तीन बड़ी-बड़ी क्रांतियाँ हो चुकी हैं। मैं समझता हूँ कि यह हमारा सौभाग्य है और शायद हमारे बाद और किसी देश मे होगी तो मुमकिन है कि हमारे भी अनुभव से उनको लाभ होगा। जैसे आज हम जानते हैं कि गाँधी जहाँ-जहाँ आजादी के दौरान, लड़ाई के दौरान गये, उनके दिमाग़ में दो धारायें काम कर रही थीं। एक तरफ़ किसी तरह फूट न होने पाये, सब लोग एक साथ मिल करके अंग्रेजो से लड़ें। दूसरे

इसमें भी सारी सेना हमारा साथ देगी कि नहीं। इनमें जो आपसी अन्याय हैं, उनको भी दूर किया जाये, नही तो यह सेना खड़ी ही नहीं हो पायेगी। गांधी जी इन दोनो धाराओ में जो टकराहट है, यह तो स्पष्ट ही कर देते हैं। कभी-कभी ऐसा लगता है और हमसे कोई कहे कि गया के महन्त हमारी संस्कृति और हमारे संस्कार और हमारे धर्म के रक्षक हैं और अब जब वह ऐसे सब महन्त समाप्त कर दिये जायेंगे, तो हिन्दू धर्म नहीं रह जायेगा। हिन्दू धर्म नही रह जायगा तो हमारी संस्कृति नही रह जायेगी। हमारी संस्कृति नही रह जायेगी, तो हमारी राष्ट्रीयता भी नही रहेगी—यह तर्क दिया जाता है। इसलिए कहा गया कि गया के महन्त का इस देश में बने रहना, ठीक-ठाक बने रहना, स्वस्थ रूप में बने रहना—यह हमारी राष्ट्रीय एकता के लिए बहुत जरूरी है। दूसरी तरफ़ हम यह देखते हैं कि हो सकता है कि अगर गया के महन्त जैसे बहुत सारे बने रह गये, तो एक महन्त तो फूलता-फलता रहेगा और नीचे दस हजार आदमी उस कगार पर खड़े होंगे कि धीरे-धीरे उनके भीतर में राष्ट्र के गौरव का भाव समाप्त। और वे ऐसी स्थिति में आ जायेंगे कि हिन्दुस्तान में अगर कोई गया के महन्त का गला काट देगा, तो उन्हें दर्द भी नही होगा और उन्हे न हर्ष होगा, न विषाद होगा। यह लगेगा कि इस महन्त की जगह दूसरा महन्त आके बैठ जायेगा—क्या फ़र्क पड़ेगा? जैसा कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि कैसा वह समाज रहा होगा जिसको आपके इतिहास मे कहा जाता है कि इतना बड़ा विश्वविद्यालय तेरह घुड़सवारों ने नष्ट कर दिया—नालन्दा का किस्सा तो यही है और सारे विद्यार्थी खड़े देखते रह गये, सारे प्रोफ़ेसर लोग खड़े देखते रह गये और सारा गाँव आस-पास खड़ा-का-खड़ा देखता रह गया, तो मुझे लगता है कि ये विद्यार्थी बहुत उद्दण्ड रहे होंगे, ये प्रोफ़ेसर बड़े आततायी रहे होंगे, नहीं तो तेरह घुड़सवार आज एक पटना युनिवर्सिटी जो उसके मुकाबले में कुछ नही है, उसको नष्ट करने के लिए कम से कम ६०० पुलिस के आदमी आयें, पूरी फ़ौज आ जाय, तब जाकर शायद कर सके। उसे तेरह घुड़सवारो ने बन्द कर दिया! तो यह तभी होता है जब धीरे-धीरे असमानता, विषमता इतनी गहरी हो गई कि देश जल जाय, नष्ट हो जाय, हमसे मतलब नहीं। इसकी जो सांस्कृतिक विरासत है, उससे भी छिन्न-भिन्न हो गये। उससे भी जुड़े हैं, तब भी गुस्सा आयेगा तटस्थ नही रह सकते। जैसे हम सुनते हैं कि फलानी जगह किसी और देश में गोला गिर गया। वहाँ का एक बन्दरगाह नष्ट हो गया। किसी और देश में हुआ—अफ्रीका में—अखबार में खबर पढ़

लिया, न हर्ष है, न विषाद है। किसी युनिवर्सिटी के साथ में अपने यहाँ के बारे में होने लगे, फिर यह संस्कृति के बारे में, या फिर हमारे समाज के बारे में—फिर एक ऐसी चिन्ताधारा, जो पहले वाली है, वह तो नहीं चल पायेगी। समाज को बदलना पड़ेगा ही और समाज को केवल इसलिये नहीं बदलना पड़ेगा कि हम न्याय स्थापित कर सकें, बल्कि समता और स्वाधीनता स्थापित कर सकें। अब ऐसी दशा में गांधी जी के सामने ये दोनों थे, तो उन्होंने दोनों के बीच का रास्ता निकाला। आज भी हमको डरवाया जाता है कि अगर बहुत जबर्दस्त संघर्ष चला, तो देश टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा। अगर आज हमको लगता है कि इस बात का डर धीरे-धीरे लोगों को नहीं रह गया। अब लोग समझ रहे हैं कि अराजकता से भी यह देश टूटेगा नहीं। हम तो कभी-कभी कहते हैं कि साल दो साल खूब अराजकता रहे, तो अच्छा रहे और वस्तुतः अराजकता तो कभी किसी देश में होती नहीं। कोई-न-कोई तो राज करता ही रहता है, वह खुद गोली चलाकर लूट ले या किसी और से गोली चलवाकर लूटे। जब खुद गोली चलाकर लूटता है तो वह शासक लौह पुरुष कहलाता है और हर आदमी जब लूटने लगता है, तो वह अराजकता कहलाती है। अगर अंतर दोनों में केवल इतना ही रह गया है कि हम जब इस समाज को बदलने की बात कर रहे हैं, तो उनके लिए सचमुच सराजकता और अराजकता में बहुत बड़ा अन्तर नहीं है। ऐसी दशा में हम अगर तीनों आयाम आपके सामने रखें नहीं, तो एक जगह पर ये तीनों के हलके या प्रान्त अलग-अलग हैं और कोई एक-दूसरे के आनुषंगिक नहीं है और अगर आनुषंगिक हों भी, गौण तो हरगिज नहीं हैं। जब तक हम यह मानकर नहीं चलेंगे, तब तक सामाजिक परिवर्तन और लोकतंत्र की संगति नहीं बैठेगी। जब हमारे बहुत से मित्र कहते हैं और यह जो लोकतंत्र है—अब आप अपने बिहार का उदाहरण लीजिये, एक पूरा आंदोलन है—हो रहा है, लोगों में यह बड़ा घोर असंतोष है कि अखबारों की आजादी छिन रही है, तो मैं अगर इसका विश्लेषण करूँ तो मैं कह सकता हूँ कि अखबारों की आजादी क्या होती है? यह तो कुछ पूँजीपतियों की आजादी है और हम-आप जो इस आजादी को बचाने के लिए खड़े हैं, हम जानते हैं कि कल इनको आजादी मिल जायगी, तो ये ही जरूर हमारा ही चरित्र-हनन करेंगे। वस्तुतः यह जितना अगप्राय मिथ्या का चरित्र-हनन करेंगे, उससे ज्यादा तो उन लोगों का चरित्र-हनन करेंगे जो इस देश में परिवर्तन के लिए त्याग कर रहे हैं।

उनको कहेंगे कि ये नक्सलवादी हो गये, कभी कहेंगे ये गुण्डे हो गये, कभी कहेंगे ये भ्रष्ट हो गये हैं और जगन्नाथ मिश्रा और बड़े-बड़े लोगों का तो खण्डन भी करने के लिए यह कह देंगे सर्चलाइट के मालिक साहेब—कि अच्छा साहेब, हमने आपके खिलाफ़ छापा, आप खण्डन दे दीजिये। इनके खिलाफ़ छाप देंगे और ये पहुँच जायेंगे खण्डन लेकर, तो कह देंगे जाइये भागिये। आपका तो खण्डन भी नहीं छापेंगे आपकी तो सिर्फ़ निन्दा छापेंगे। और लड़ने के लिए ये तैयार हैं, इनकी आजादी बरकरार रहे—इन पत्रकारों की आजादी बरकरार रहे। हम भी जानते हैं पत्रकारों को, जिस तरह अपने को बेचा है तीस वर्षों में—उसकी गिनती गिनाने लगूँ, तो जो-जो इन्होंने किया है, क्या-क्या नहीं किया है? बहुत बड़ी सूची बन जायेगी। इसी जर्नलीज़ (Journalese) अखबार के मालिकों और अखबार के सम्पादकों, पत्रकारों ने हृदय नेट केस (?) के दौरान—ये बैठे तो हैं हमारे मित्र जितेन्द्र जी, एक-एक आदमी बिहार का जानता है। इनको शिकार बनाने में किसी प्रेस बिल विधेयक की जरूरत नहीं पड़ी। केवल एक मंत्री और मालिक के गठबंधन से काम हो गया। क्या यह प्रेस बिल विधेयक समाप्त हो जायेगा, तो गठबंधन नहीं रहेगा, या बंधन तब भी रहेगा? फिर भी हम कहते हैं कि आजादी होनी चाहिए। फिर भी हम इसके लिए बलिदान करने को तैयार हैं, हल्ला मचाने को तैयार हैं, शोर भी मचाने को तैयार हैं। मैं तो यह भी कहूँगा कि अगर पत्रकार चाहे पिछड़ जाय, लेकिन सामाजिक परिवर्तन करने वालों को तो बराबर इसका ध्यान चाहिए कि इस प्रकार का बिल भी न उठे। क्योंकि पत्रकार की जितनी स्वाधीनता है कि हम सही बात की रिपोर्टिंग कर सकें, उससे ज्यादा बड़ा अधिकार मेरा है, स्वाधीनता के नाते कि सही बात की *खबर मुझको मिलनी चाहिए। मेरा अधिकार तो खबर प्राप्त करने का है,* पर यह ख़बर दो बदमाशों के आपसी द्वेषभाव से ही मिलती है हमको, तो भी हमको मिलनी चाहिए। पता तो चले कि स्वाधीन देश में एक मंत्री और दूसरे मंत्री में झगड़ा इस बात का हुआ कि ज्यादा ग़बन कौन करे और दोनों ने एक-दूसरे की पोल खोली तो लोग कम-से-कम जानें तो कि हो क्या रहा है। मैं बदमाशों की भी आजादी चाहता हूँ और ख़ास तौर पर आज के संदर्भ में। इसलिए नहीं कि ये बदमाश सामाजिक परिवर्तन करेंगे। इसलिए कि देश की जो एकदम फटेहाल स्थिति हो गई है कि हम तो रोना भी नहीं चाहते—यहाँ तक लोगों को पता तो चले कि जो सब हो रहा है, तुम अपने गाँव में बैठे हो, लूटने की स्कीम पटने में बन रही है और चूँकि दो आपस में

लड़ गये, इसलिए तुमको थोड़ी बहुत खबर भी लगी, नहीं तो वह भी नहीं लगती। अगर यह नहीं है तो मैं आजादी किसलिए चाहता हूँ। बेशक मैं आजादी अपने लिए चाहता हूँ, क्योंकि मैं अपने विचारों को भी व्यक्त करना चाहता हूँ—मैं आजादी उन लोगों के लिए भी चाहता हूँ जिनका यह ख़याल है कि हमारी राजनीति से उनको विरोध है और यह आजादी इसीलिए भी चाहता हूँ कि यह सोचना, गलत सोचना और गलत लोगों को जानकारी और उस आधार पर अपनी राय बनाने का अख्तियार। यह स्वतंत्रता का एक निरन्तर बढ़ता हुआ रूप है—यह कभी भी ऐसा आप नहीं कह सकते, किसी भी समय में कि अब स्वतंत्रता का जो रूप है, यह अंतिम रूप है। स्वतंत्रता हमेशा एक बढ़ता हुआ रूप है। एक स्थिति तो जरूर ऐसी होती है जिसमें स्वतंत्रता बिलकुल न हो, लेकिन जब स्वतंत्रता की शुरुआत हो जाती है, स्वाधीनता की शुरुआत हो जाती है, तो उसमें बढ़ना रहता है। उस समय अगर कोई सामाजिक परिवर्तन करने वाला कहता है—[illegible] और जो स्वतंत्रता (Freedom) मिली है, यह तो [illegible] है, [illegible] लिए लड़कर के क्या होगा और यह तो केवल चुने हुए [illegible] है, तब मैं उससे कहना चाहता हूँ—बेशक यह चार ही [illegible] है और तुम बारह आने वाली कहो। ये अखबार [illegible] नहीं। लेकिन अगर यह चार आना भी [illegible] को वहाँ तक ले नहीं जा सकोगे जहाँ तक [illegible]। [illegible] इसकी रक्षा करो। चार आना से [illegible] पैसा यह नहीं होने पाये। मुझे बहुत [illegible] वादी स्वर पर, कि स्वाधीनता तो [illegible] है, वह एक प्रकार का व्यक्तिवाद है, यह समाजद्रोही है और [illegible] है, और जब समाजवादी समाज बनेगा, तो [illegible] जायेगी। अगर हम देश को [illegible] को बराबर स्वाधीनता दे दें, [illegible] तर्क को समझ नहीं पाता। [illegible] का इतना यकीन है कि [illegible] सुनी जाती है, तब [illegible] को बदल सकता है। [illegible] देश के [illegible] हो कि आज [illegible]

हम कुर्सी पकड के भ्रष्टाचार में लिप्त हो जाएँ। तब जरूर हमको डर लगेगा कि इसके बाद फिर अखबार की स्वतंत्रता खत्म होनी चाहिए कि ऐसा न हो कि लोग बतायें कि अभी तक तो ये बहुत जनता की बातें करते थे, अब देखिये—ये क्या कर रहे हैं। फिर ऐसे भी क्रांतिकारी हैं, जो केवल जलन के कारण क्रांति में आये हैं, जिनको यह ख़याल है कि ये तो करोड़पति हो गये हैं, मैं जूता चटकाता रह गया और जिस दिन मैं इन्क़लाब करने मे सफलता प्राप्त कर लूं, उस दिन तो उसका सारा धन लेकर मैं हथिया लूं और तब मैं अखबारो को बन्द कर दूँगा, जो अखबार करोड़-पतियों के परदे का फ़ाश करते है, ताकि मेरा पर्दा न फाश होने पाये। ऐसे लोग तो कह सकते हैं कि जब तक कि इन करोड़पतियो का पर्दाफ़ाश होता है, तब तक तो राज को किसी प्रकार कष्ट नही है; जिस दिन मेरा होने लगेगा, उस दिन तो मैं अखबार की स्वाधीनता को लेकर रहूँगा। इस तरह का चिन्तन तो मेरी समझ मे इन्कलाब की पैरवी नहीं है। यह तो उसी चीज से निकलता है कि आप स्वाधीनता को एक गौण और अप्रासंगिक या आनुषंगिक वस्तु मानें। यह लोकतंत्र को वहाँ ले जाकर पटकेगा जो चीन मे हुआ, जो रूस मे हुआ।

अंत में मैं एक समता वाली बात भी कहना चाहूँगा। हिन्दुस्तान में मैं यह समझता हूँ कि रूस और चीन की क्रांति, फ्रांस की क्रांति देखकर फिर इसका मन मे निश्चय क्रांतिकारियों को करना चाहिए कि बराबरी दो तरह की है। जैसे मार्क्स के सिद्धान्त का पूरा आग्रह गैर-बराबरी के विश्लेषण पर उतना नही है जितना शोषण के रूप को लेकर। फिर एक प्रकार की स्पष्ट बेचैनी इस बारे में सन् चौसठ-सड़सठ में हुई। फिर सन् सड़सठ में इतिहास ने बहुत जबर्दस्त करवट ली, तो आप लोगों को याद होगा कि जिस समय अक्टूबर में यह स्थिति सामने आई थी कि फिर पूरे बिहार भर में प्राप्त जितनी गणना है, उनमें से कुल मिलाकर चार हजार वोट पड़े। चारों तरफ एक जबर्दस्त अकाल पड़ा। इसके मुकाबिले में तमिलनाडु कुछ नहीं, लेकिन तमिलनाडु मे भी बहुत बड़ा अकाल पड़ा। इधर बहुत दिनों से तमिलनाडु में अकाल नहीं पड़ा। फिर जिस समय बिहार में पड़ा था, उस समय तमिलनाडु के अंदर भी अठारह हज़ार सीटें लगी। तो मैं इसलिए कह रहा हूँ कि अपने देश की करवट है। अब आप दुनिया के स्टैण्डर्ड से देखें, तो बेशक जैसा रूस है, वैसा हिन्दुस्तान भी हो; या जैसा चीन है, वैसा फिलिपाइन्स भी हो; जैसा अमेरिका है, वैसा अबीसीनिया हो। ये सब देश हों। फिर ये सब विषमताएँ चारों तरफ़ हैं। चाहे राष्ट्र के भीतर और चाहे समाज के विभिन्न वर्गों की या विभिन्न

जातियों की विषमतायें हैं, यह सारी गैर-बराबरी, इनसे अलग सम्प्रदायिकता को जूझना चाहिए। मैं नहीं समझता हूँ कि फिर वहीं कि यह देशद्रोही है, उसे फेंक दीजियेगा तो बाकी सब अपने आप ही ठीक हो जाएँगे। ऐसा लगता है कि जैसे अहमक है ये लोग, जिस तरह से सामाजिक परिवर्तन मानते हैं। ये मानते हैं कि जैसे-जैसे शिक्षा बढ़ती जायेगी और जैसे-जैसे उद्योग बढ़ता जायेगा, वैसे-वैसे जाति-व्यवस्था कमजोर होगी। अंग्रेजी शिक्षा, औद्योगीकरण और शहरी जिन्दगी—ये तीन जाति के जड़ पर प्रहार करते हैं और जैसे-जैसे व्यवस्था बढ़ती जायगी, जाति-व्यवस्था कमजोर होती जायेगी, शिथिल होती जायगी। कभी-कभी तो मुझे लगता है कि पढ़ाई-लिखाई जाति-व्यवस्था को हिन्दुस्तान में पुष्ट ही करती है, शिथिल नहीं; क्योंकि जाति-व्यवस्था की जड़ें इतनी ज्यादा गहरी हैं कि जाति के बारे मे अभी भी मिनिस्टर लोग, प्रोफेसर लोग तक भी नहीं बचते। इसका उदाहरण मैं आपके सामने रखता हूँ। अगर आप कहें कि चुनाव जाति के आधार पर होता है तो यह सही है कि जाति के आधार पर होता है। वे लोग जो शासन मे हैं—हमारी आर्थिक नीति जो है, हमारी राजनैतिक नीति जो है, आदिवासियों की नीति जो है—सब-का-सब इसी से संचालित करते हैं।

ये तो ऐसे-ऐसे इकरार होते हैं। ये जो टीचर, ये प्रोफ़ेसर अगर इसे कुछ न देते तो ये गरीब जाकर करेगा क्या? न तो इसे राजनैतिक घोषणापत्र की आवश्यकता होती है, न ये पाखण्ड करते हैं कि हम-हम-हम-हम चले जायेंगे, तो देश के जनतंत्र के लिए ही। ये तो खाली इसी बात पर चले जाते हैं घूमने विदेश कि मैं ब्राह्मण हूँ, तो ब्राह्मण मिनिस्टर भेजेगा। कायस्थ हैं तो कायस्थ भेजेगा। ठाकुर होगा ठाकुर को विदेश भेज देगा। तो लोग कहते है कि ऐसे कहीं होता है! उत्तर प्रदेश में तो ऐसे ही होता है, मैं समझता हूँ कि बिहार मे भी वैसे ही होता होगा। तो अक्सर मैं उदाहरण देता हूँ कि जब पढ़े-लिखे लोग इस बात को कहते है कि अनपढ़ों के कारण जाति-व्यवस्था है, तो उनके सामने यह उदाहरण देता हूँ कि ऐसी कांस्टीटूएंसी जिसमें केवल पढ़े-लिखे वोट देने वाले हों, उस कास्टीटूएंसी का आचरण क्या है चुनाव में और जिसमें अधिकांश अनपढ़ हैं, उस कास्टीटूएंसी का आचरण क्या है और यह तो राजनीति के विधान इसमें से निकाले कि यह क्या दिखाता है और इनमें से क्या हम सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से कुछ नतीजे निकाल सकते हैं तो मेरी धारणा तो ऐसी ही है कि अंग्रेजी शिक्षा या किसी भी प्रकार

शिक्षा इसे मजबूत करती है। क्यों मजबूत करती है, इसके बारे में दिलचस्प विश्लेषण करके हम देख सकते हैं। ऐसा लगता है कि शहरीकरण इसके स्वरूप को बदलता है, लेकिन उसकी प्रकृति को नहीं छूता। और अधिक उदाहरण मैं नहीं दूंगा और इसी प्रकार से औद्योगीकरण में भी, मैं समझता हूँ, जाति-व्यवस्था बहुत तरीके से पनपती है। इसलिए मुझे ऐसा लगता है कि हिन्दुस्तान के सामाजिक परिवर्तन करने वालों को इससे खुद आता है कि किसी को आनुषंगिक रूप से नहीं निकाल सकते कि ये इसको कल्पनाओं से अपने आगे निकलती है—ये चलते ही यह मानकर है और यह इसी आधार पर निकलेगा जब हम समता को भी एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व मान लें। बिना समता के नहीं चलेगा। देखिये भ्रातृत्व भी इसमें आता है। लेकिन भ्रातृत्व किसी जात-बिरादरी का रूप हो। यह जो भ्रातृत्व है, इसमें भ्रातृत्व के नाम पर कोई बड़ी बिरादरी है, कोई छोटी बिरादरी है, एक जाट बिरादरी, एक ठाकुर बिरादरी। लेकिन जाति-व्यवस्था में केवल वही भ्रातृत्व है इस्लाम की तरह और इसलिए भ्रातृत्व भी किसी समय भी एक सीमित कड़ी के आगे नहीं बढ़ पाता। और सबसे बढ़कर के बिरादरी में, भ्रातृत्व में फ़ैटरनिटी में सबसे बड़ी कमी यह रह जाती है कि जब तक आप उस बिरादरी में और बिरादरी के बाहर वाला ऐसा सम्बन्ध न बना लें कि आमना-सामना हो जब तो बिरादरी के अंदर रगड़ पैदा हो जाती है। फिर यह बिरादरी के बाहर वाला अंदर कैसे आ गया और हम लोग बिरादरी वाले हैं। तो ठाकुर अगर पूरा ठठ का ठठ सिर्फ़ अपनी बिरादरी में इतना नहीं होता जितना कि तब जब भूमिहार खिलाफ़ खड़े हो जाते हैं। इतना नहीं होता तो दोनों की रक्षा करने को बहुत से दैत्य लोग तैयार है। और इसलिए सामाजिक नियम में, किसी पर दोष या लांछन नहीं दे रहा हूँ और न क्रांतिकारियों को इस तरह से सोचना चाहिए। ये सामाजिक नियम और ऐसी दशा में जो मुकाबला कंफ्रंटेशन सत्ता से और भी जो जातियों को लेकर के होता है, दूर तक विषमता को बनाये रखने के लिए है।

इसलिए हमें जाति के ऊपर प्रहार विषमता को तोड़ने के लिए करना है, क्योंकि अंततः जब विषमता नहीं होगी, तब समाज उन्नत होगा। जाति से न शिकायत है, न किसी के बारे में यह कहना कि कायस्थ लोग कम जातिवादी होते हैं, ठाकुर लोग ज्यादा होते हैं, क्योंकि जातिवाद का चरित्र भ्रातृत्व का चरित्र है—चाहे वह बड़ा भ्रातृत्व का चरित्र हो, चाहे छोटा भ्रातृत्व—ये एक प्रकार के कंफ्रंटेशन से पनपता है। तो इसलिए मैंने आपके सामने ये तस्वीरें रखी

कि क्रांतिकारियों की वृत्तियों को समझने के लिए, और इनके लिए अलग से पढ़ाई होनी चाहिए।

हमें याद है कि एक मर्तबा किसी अमरीकी अखबार-नवीस ने स्टैलिन से एक मर्तबा पूछा कि आपके देश में 'समता' का क्या हाल है। तो स्टैलिन का यह जवाब हुआ कि 'टू इक्वेट इक्वालिटी विद सोशलिज्म इज ईक्वली एबसर्ड।' वह एक वल्गर दिमाग़ है जो समझता है कि गैर-बराबरी मिटाना साम्यवाद का एक बहुत बड़ा उद्देश्य है। मैं निरन्तर यह कहूँगा कि इस तरह हो-हल्ला चला? इतना ही नहीं, कभी-कभी तो मुझे ऐसा लगता है कि गैर-बराबरी अपने सम्पूर्ण अर्थों में अगर नीति का इतना बड़ा मानदण्ड है कि तथाकथित पूँजीवादी समाजों को एक तरह से नापा जाता है, तो इसके आधार पर कि पूँजी के फ़ीते पूँजीपति के हाथ में है या इसकी मिल्कियत स्टेट के हाथ में। बँटवारा इतना अधिक नहीं हो सकता स्पष्ट सामाजिक परिवर्तन के लिए जितना इससे कि इस मिल्कियत के रहते इस मिल्कियत के कारण ग़ैर-बराबरी का मानदण्ड हो, क्योंकि गैर-बराबरी ही वह चीज है जो वस्तुत: सामाजिक परिवर्तन की मानदण्ड है। मुझे इससे कोई विशेष फ़र्क नहीं पड़ता कि इस हॉल का मालिक कौन है बशर्ते मैं भी बोल सकता हूँ, इसमें आप भी बोल सकते हैं और वह भी आकर बैठ सकता है, बोल सकता है। लेकिन जब यह होगा कि सब ऐसे ताब से कि जैसे मैं झुक ही नहीं सकता हूँ और एक असमानता उसके कारण पैदा कर दी, तब यह सही है कि चाहे सरकारी घर बनाये हों, चाहे डाकबँगले हों जिसमें मंत्री और उनके बच्चे तो जा सकते हैं, सामान्य बच्चे नहीं जा सकते। फिर तो जैसे डॉक्टर राममनोहर लोहिया ने किया, वह जरूरी है। डॉ० राममनोहर लोहिया एक मर्तबा कानपुर में भाषण देने गये थे तो कानपुर में जो सरकारी रेस्ट हाउस था वहाँ, उन्होंने दरख़्वास्त दी कि आपके रेस्ट हाउस में कमरा खाली है और मैं उसका किराया देने को तैयार हूँ, मुझे वहाँ आज दिन भर ठहरने की इजाजत दी जाय। मैं वहाँ दिन भर ठहरूँगा। डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट ने बताया कि यह नियम है कि इसमें सिवाय सरकारी अफसर के, मंत्री के परिवार या मंत्री के अलावा कोई और नहीं ठहर सकता। तब उस पर डॉक्टर राममनोहर लोहिया ने कहा कि मैं नागरिक हूँ और यह भारत की जनता की सम्पत्ति है। और यह नियम! अगर आप बतलाएँ कि यह खाली नहीं है, इसलिए नहीं दे रहे हैं, तब तो समझ में आता है। अगर यह भी

आप बतायें कि अगले दिन खाली पड़ा रहेगा, तो इसका किराया मुझसे आप ले लीजिये। लेकिन ये खाली पड़ा रहेगा, बेकार पड़ा रहेगा, लेकिन जब मंत्री और उसके घरवाला आयेगा, तभी यह इस्तेमाल होगा, यह एक विशेष प्रकार की विषमता पैदा करता है और मैं इसको मानने को तैयार नहीं हूँ। और इस विषमता को लेकर उन्होंने सत्याग्रह किया, जबर्दस्ती जाकर यह कह दिया कि आज मैं अपने साथियों के साथ तीन-चार दिन के लिए पैसा लेकर आऊँगा और रात में रुकूँगा और आप मुझसे किराया लीजिए और मुझे रहने दीजिये या मुझे जेल भेज दीजिए। उसके बाद वे जेल गये। इस पर बड़ा तूमार मचा और अंत में सरकार ने अपना नियम थोड़ा बदला। लेकिन अब मैं सुनता हूँ कि फिर वैसे ही सब हो गया। फिर मैं कहूँगा कि सच्चिदानन्द जी इसी तो ताज़ा कर दें। फिर मैं इसलिए अब आपके सामने एक उदाहरण दे रहा हूँ। यह सरकारी सम्पत्ति है, निजी सम्पत्ति नहीं है, लेकिन यह भी विषमता उत्पन्न कर रही है। निजी सम्पत्ति तो इस्तेमाल होती ही है विषमता के लिए। फिर जब कभी-कभी सोचता हूँ कि विषमता एक ऐसा मापदण्ड है, गैर-बराबरी हमको इसके आगे सोचने के लिए बाध्य करती है कि अंततः यह बराबरी इसने स्थापित की कि नहीं और यह कसौटी जब तक हमारे सामने रहेगी, तब तक देश थोड़ा जगा रहेगा। फ्रांस में क्रांति जो हुई, वियतनाम की या रूस की क्रांति हुई, अन्य स्थानों पर हुई, फिर तो हम अधिक चैतन्य होकर आधुनिक परिवर्तन की तरफ आएँगे।

तो मैंने आपके सामने स्वाधीनता, समानता, भ्रातृत्व—ये ही तीन कसौटियाँ रखीं। सामाजिक परिवर्तन के साथ मिलाकर बेशक बहुत विस्तार में तो नहीं गया, लेकिन मेरा ख़याल था कि एक बड़े पैमाने पर आपके सामने तस्वीर रख दी। डॉ० जयप्रकाश जी ने, गांधी जी ने, लोहिया जी ने बहुत कहा और किया इसको लेकर अधिक विस्तार यहाँ सम्भव नहीं है।

□□

सम्पूर्ण क्रांति और कौमी एकता

आज हम ऐसी गोष्ठी में उपस्थित हैं जहाँ ऐसे दो मुद्दे एक साथ जोड़े गये हैं जो सामान्यतः सम्मेलनों में नही जोड़े जाते। एक तरफ सम्पूर्ण क्रान्ति और दूसरी तरफ कौमी एकता। इनमें से दोनो ही मुद्दे अलग-अलग तो बहुत बार विचार का प्रस्ताव का और कार्यक्रम का विषय बन चुके हैं लेकिन यह बहुत अच्छी बात है कि बिहार मे ऐसे दो मुद्दों को जो सामान्यतः साथ नही रखे जाते एक साथ मिला देने की कोशिश हुई है क्योंकि ऐसा हो जाता है कि वही लोग जब कौमी एकता के बारे में विचार करने बैठते हैं तो एक तरह से दिमाग बनाते हैं सम्पूर्ण क्रान्ति की बात करते है तो एक तरह का और दम बांधो पर बात करने लगते है तो एक तरह का और दिमाग खानों में बँट जाता है। अगर आप दम बांधो और क़ौमी एकता को भी एक साथ एक ही सम्मेलन मे बहस का मुद्दा बनाये तो आप देखेंगे कि बहुत से कटघरे जो आपने बना रखे है या बन जाते है वह तो अपने आप टूट गए और सम्पूर्ण क्रान्ति की पहली शर्त ही यही है चाहे वह सम्पूर्ण क्रान्ति या किसी भी प्रकार की क्रान्ति हो उसकी पहली शर्त होती है कि आदमी की जितनी दिशायें हैं विचार करने की, कार्य करने की, उनको अलग-अलग बाँटा नही जा सकता। सब एक दूसरे पर बहुत गहरा प्रभाव डालती है।

क़ौमी एकता के बारे में सोचते समय हम लोगों का एक उद्देश्य है कि कौमी एकता पर विचार करने का मतलब होता है कि हिन्दुओ और मुसलमानों के आपसी रिश्ते क्या हैं। बहुत सी क़ौमी एकता की सरकारी समितियाँ भी होती हैं। उस प्रकार के सप्ताह मनाये जाते हैं। विरोध पक्ष के लोग भी कभी-कभी तो एकता की सहमति मे सम्मेलन कर लेते हैं, गोष्ठियाँ कर लेते हैं। जब कभी लड़के उत्पात पर उतारू हो जाते हैं, खून-खराबा होता है तब क़ौमी एकता के बारे में आग बुझाने वालों की तरह चर्चा होती है कि जैसे यहाँ आग लग गई है। क़ौमी एकता एक तरह का एक बाल्टी पानी है। इसके ऊपर डाल दो तो बुझ जायेगी, उसके बाद बस।

यह हम लोगों के विचार करने का ढंग है। अगर हम कौमी एकता का कुल इतना ही मतलब समझते हैं तो क़ौमी एकता पर विचार करने का ढंग यह क्रान्ति विरोधी है, यथास्थितिवादी है। यथास्थितिवादी इस अर्थ में है कि जहाँ कहीं तनाव पैदा हो, झगड़ा पैदा हो ढँक-तोप दो, जैसा है वैसे ही चलता रहे। जब तक कहीं कुछ गड़बड़ नहीं हो जाता तब तक क़ौमी एकता के लिए कोई संघर्ष नहीं और क़ौमी एकता पर भी उसी वक्त चिन्तित होते हैं जब कहीं विषमता के कारण विस्फोट हो। जब तक नहीं हो रहा है तब तक के लिए क़ौमी एकता का सवाल मूलतः यही है कि जैसा समाज चल रहा है इसमें कोई बड़ी जबर्दस्त टूट न होने पाये, तनाव न होने पाये, और होने लगे तो लोगों को मना कर समझा बुझा करके शांति-सुव्यवस्था स्थापित करके फिर जैसा का तैसा करके ढँक दो।

क़ौमी एकता के लिए यथास्थिति रखना है। यह सम्पूर्ण क्रान्ति या किसी भी प्रकार की क्रान्ति नहीं है। और इसीलिए यह भी एक तस्वीर आप देखते हैं कि क़ौमी एकता पर चर्चा करने के लिए बड़ी आसानी से ऐसे तमाम लोग इकट्ठा हो जाते हैं जिनको समाज में किसी भी बदलाव में कभी भी कोई दिलचस्पी नहीं रही, उनको यह विषय प्रिय है। तो जिन लोगों के दिमाग में समाज को बदलना यह प्रथम अभीष्ट है, पहला उद्देश्य है, उनके सामने कौमी एकता का सवाल किस तरह आता है। कौमी एकता में पहली बात तो यह कि हम इतनी परेशानियों में रहे कि यह हमारे स्वाधीनता संग्राम के दौरान चूँकि हिन्दुस्तान के भीतर अंग्रेजों के 'भेद पैदा करके राज करो' वाली नीति के कारण मुस्लिम लीग की एक जबर्दस्त लाबी बनी। इसलिए यह जो राष्ट्रीय आन्दोलन के द्वारा स्वाधीनता प्राप्ति की बात सोचते थे वह इनके लिए एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न था कि हिन्दुस्तान एक राष्ट्र है या दो राष्ट्र। क्योंकि जिन्ना साहेब ने यह घोषित किया था कि हिन्दुस्तान एक राष्ट्र नहीं है दो राष्ट्र है। उसका एक परिणाम तो यह निकला कि आज़ादी जिस दिन हमको मिली उसी के साथ-साथ ये देश भी दो हिस्सों मे बँट गया और यह देखिये उसने हर राष्ट्रीयवादी या राष्ट्रवादी संघर्ष करने वालों के दिल में भी एक फाँक डाल दी। तब से राष्ट्रवादी जो खास करके हिन्दुस्तान के—एक नये हिन्दुस्तान का सपना देखते थे, वह बहुत-सी बातों से कतराने लगे क्योंकि दिल में उठता है तो सोचते हैं क्या करें। बँटवारे का विरोध करें, तो जनसंघी चिल्लाते हैं हिन्दू होकर ऐसा कहते हैं। बँटवारे का समर्थन करेंगे तो जिसके लिए लड़े

एक तरह से सम्पूर्ण देश में विचार करने में समस्या खड़ी होती है। तो जैसा होता है — मत उठाओ, मत उठाओ, उसकी तरफ़ मत देखो, बस तोप दो जब तक इसकी चर्चा न हो तब तक ठीक। कम-से-कम यथार्थ से उसको घबराना नही चाहिए। जो वस्तुतः असलियत है उससे घबराना नहीं चाहिए। भागना नही चाहिए। हिन्दुस्तान के कांग्रेसी कुछ थोडा पलायनवादी है। जितनी हद तक हिन्दुस्तान के समाजवादियों की कांग्रेसी संस्कृति है उतने हद तक वह पलायनवादी है। लेकिन अगर सचमुच उनके मन मे इन्क़लाब है तो वो भागेंगे नही, समस्या पर विचार करेंगे, उसका हल निकालेंगे। डरेंगे नही।

एक संदर्भ में जैसा मैंने कहा क़ौमी एकता का वह एक राज या दो राज यह सन्दर्भ तो पहले बार का है। वह एक है हमारे सामने। लेकिन आज़ादी के बाद या आजादी के पहले भी तो मैं आपको याद दिलाना चाहता हूँ इसका सामना गाँधी जी ने किया। जब १९३० के आसपास और कुछ अंग्रेज ने शह दी, कुछ अम्बेडकर साहेब की अत्यन्त प्रचलित जिद्द के कारण इस बात की मांग की कि हम भी इस हिन्दू समाज में नही रहेंगे। गांधी जी ने उस समय अपनी जिन्दगी की बाज़ी लगाकर आमरण अनशन शुरू किया कि अम्बेडकर साहेब अपने अलग चुनाव, अपने अलग वोटर्स, अपने अलग शासन प्रक्रिया, अपनी अलग की मांग नहीं छोड़ेंगे तो मैं अपनी जान दे दूँगा। यह विकल्प विचार, यह गाँधी जी के अनशन का यह स्रोत एक प्रकार से आप कह सकते है तो अम्बेडकर के व्यक्तित्व में चले जाते हैं की जो मांगें थीं उनके जो स्वर थे जिसके कारण इतना बड़ा सवाल उठ खड़ा हुआ इसका विरोध करेंगे। उस सन्दर्भ में अगर आप चाहें तो आप कह सकते हैं कि वह हरिजन विरोध था। अगर अम्बेडकर ने इतना ही किया होता तो निश्चय ही मैं आकर कहता कि गाँधी जी मूलतः हरिजन विरोधी थे। लेकिन गांधी जी ने उस अनशन के दौरान यह किया कि बम्बई में सब लोग इकट्ठा हुए और अन्त में इस पर समझौता हुआ कि अच्छा हम अलग की मांग छोड देंगे अलग चुनाव प्रतिनिधि होने की मांग छोड़ देंगे। इस प्रकार गांधी जी ने उस मांग को समाप्त करवा दिया। परन्तु उसके बाद गांधी जी ने तय किया या उसी दौरान उन्होंने तय किया कि आज से मेरा जीवन हरिजनो के उत्थान को समर्पित है। वही समय या, उसी के बाद, गांधी जी ने लगभग कांग्रेस से सदस्यता छोड़ दी। बड़े पैमाने पर उन्होने, हरिजनो का अख़बार निकाला। और अपने को 'हरिजन-सेवक' घोषित किया। उन्होने कहा कि मैं कुल मिलाकर स्वयं भी एक हरिजन ही हूँ और जीवन भर कुछ उन्होंने अपने लिये तय कर

लिया जिसके द्वारा उस अनशन के बाद के गांधी जी और पहले के गांधी जी में यह बहुत काफी अन्तर दिखाई पड़ता है कि गांधी जी का पूरा-का-पूरा एकदम हरिजनों के भीतर एक नयी जागृति पैदा करने का, उनको उठाने का उनको इन्कलाब के लिए तैयार करने का स्वयं जैसे को है। अधिक-से-अधिक यह दूसरा काम किया होगा। समाज में फांक बनाने वाले तत्व के पहले उनका विरोध करने के साथ-साथ विषमता से यह फांक यहां उत्पन्न हुई उस विषमता को भी उन्होंने अपने जिम्मे लेने का हठ लिया। इसलिये गांधी जी बदलाववादी है, यथास्थितिवादी नहीं।

अक्सर ऐसे अवसर आते हैं जब समाज में किसी भी तरह की विषमता के कारण तनाव या फूट पैदा हुई तो आग बुझाने वाले दो दस्ते हैं। ये इतने के लिये बहुत मुस्तैद हैं कि हटो-हटो उधर मत जाओ। लेकिन जिन गहरे कारणों से वह तनाव उत्पन्न हुआ वह आग और चिन्गारी उपजती है न सिर्फ वह कि उसकी ओर उनका ध्यान नहीं जाता है बल्कि कोशिश करते हैं कि उन समस्याओं का दमन करें। तो यह मैंने तीसरा जो हरिजनों के विषय में बताया आज हमारे सामने विभिन्न प्रकार से कभी विस्फोट करता हुआ, कभी गुमसुम चलता हुआ यह नासूर की तरह हमारी कौमी एकता के अन्दर जख्म बन गया है जिसके कारण यह समाज टीसता है, दर्द करता है। अब यह कोई समाधान नहीं है कि जहां दर्द हुआ एक अफीम का इंजेक्शन लगाओ थोड़ी देर के

और अगर बाबा साहेब अम्बेडकर की बातें आप पढ़ें या सुनें तो लगेगा कि शुरुआत कुछ से कुछ थोड़ी से भी है। विषमताएँ जरूर होंगी अन्यथा यह सख्त जो दण्ड है हम अगर कहें तब यह सही है कि लोहिया जी ने कहा था कि यह अम्बेडकर बहुत गहरे विचारक हैं, बहुत क्रांतिकारी दृष्टि है इनकी।

यह लोहिया जी का विचार है। लेकिन अगर हम लोग केवल ईर्ष्या का ही विरोध उनका करते रहें तो यह सकते हैं कि बाबा साहेब को जयप्रकाश से ईर्ष्या है तो जो यथास्थितिवादी हैं उनको तो यह अधिकार अवश्य है लेकिन अगर हम यह कहें कि जो बातें उन्होने कहीं उसको न हम भूलेंगे न भूलने देंगे। ईर्ष्या के अलावा भी उसका एक ढंग है जिसको बताता है थोड़ा बहुत और बिना ईर्ष्या के कि इस सवाल को एक बार पूछते तो एक तो सम्पूर्ण या कौमी एकता का मुद्दा जो है हिन्दू-मुसलमान वाला नहीं है हरिजन है उसका एक राष्ट्रीय इतिहास है। इस सब के साथ नया इतिहास पिछले तीन वर्षों में जिसके बारे में उस समय लोग बहुत ज्यादा यानी ऐसा नहीं है कि पहली बार बहुत ज्यादा जानते रहे या उस स्तर पर फैलने का मौका मिला हो। और वह जिसकी ओर हमारे मित्र वीरेन्द्र भट्टाचार्य ने अभी आपके सामने संकेत किया। यह भी एक जनजाति है। वह है छोटी-छोटी जनजातियों की समस्या—नागालैण्ड, मीजोरम, पूरे उत्तरी-पूर्वीय बेल्ट में उधर चिट्टागोंग, पूरब की ओर मणिपुर, त्रिपुरा जिनके सामने बीच-बीच में यह समस्या खड़ी होती है

हम इस भारत के बाशिन्दे है। हम इस बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं। पटना में बैठकर हम आप पूर्वोत्तर को भूलने की कोशिश करते है। ये लोग कहेंगे कि हम उस भगवान की सेवा चाहते है, जो मारेगा, कुचल देगा, कैद कर देगा और फिर हम पर सवार हो जायेगी। हमारा उनसे बस यह पूछना है कि अपने-अपने कलेजे पर हाथ रखकर टटोलें जो दिल के भीतर जैसी भावना है वह ठीक है न। ये लोग जो गोली खा जाते हैं, मारे जाते हैं, निकाल दिये जाते हैं, गाँव-के-गाँव उजाड़ दिये जाते हैं। इनसे बहस क्या करें? ये कहते है हम तुम्हारे गुस्से से न ही डरते और हम कहते हैं कि इसका जवाब हम नहीं देंगे। इसका जवाब हमारी फौज देगी। कभी-कभी वह फौज हमारे ऊपर भी हमला कर देती है। यही पटना और बिहार में जब आप मे से बहुतों ने इन्कलाब किया था उसी फौज ने दमन किया। वही फौज थी।

लिया जिसके द्वारा उस अनशन के बाद के गाँधी जी और पहले के गाँधी जी में यह बहुत काफ़ी अन्तर दिखाई पड़ता है कि गाँधी जी का पूरा-का-पूरा एकदम हरिजनों के भीतर एक नयी जागृति पैदा करने का, उनको उठाने का उनको इन्कलाब के लिए तैयार करने का स्वयं जैसे को है। अधिक-से-अधिक यह दूसरा काम किया होगा। समाज मे फाँक बनाने वाले तत्त्व के पहले उसका विरोध करने के साथ-साथ विषमता से वह फाँक वहाँ उत्पन्न हुई उस विषमता को भी उन्होने अपने जिम्मे लेने का हठ लिया। इसलिये गाँधी जी बदलाववादी है, यथास्थितिवादी नही।

अक्सर ऐसे अवसर आते है जब समाज में किसी भी तरह की विषमता के कारण तनाव या फूट पैदा हुई तो आग बुझाने वाले दो दस्ते हैं। वे इतने के लिये बहुत मुस्तैद है कि हटो-हटो उधर मत जाओ। लेकिन जिन गहरे कारणों से वह तनाव उत्पन्न हुआ वह आग और चिन्गारी उपजती है न सिर्फ यह कि उनकी ओर उनका ध्यान नही जाता है बल्कि कोशिश करते हैं कि उन समस्याओं का दमन करें। तो यह मैंने तीसरा जो हरिजनों के विषय मे बताया आज हमारे सामने विभिन्न प्रकार से कभी विस्फोट करता हुआ, कभी सुगबुग जलता हुआ यह नासूर की तरह हमारी कौमी एकता के अन्दर जख्म बन गया है जिसके कारण यह समाज टीसता है, दर्द करता है। अब यह कोई समाधान नही है कि जहाँ दर्द हुआ एक अफ़ीम का इंजेक्शन लगाओ थोड़ी देर के लिए दर्द चला जाये। यह कौमी एकता का तरीक़ा है। दूसरा तरीका है कि वह दर्द दूर हो सकता है, वह जख्म दूर हो सकता है। उसका मवाद क्यों जमा हो? यह नासूर क्यों हो? वह कैन्सर की शक्ल क्यों ले? इस पर हम विचार करें और यह कहे कि जब तक इस कैन्सर को हम निकालें नही इसका इलाज नही होता, तब तक यह बराबर प्रश्न उठेगा कि हिन्दुस्तान एक समाज है या दो समाज है या कई समाज है। जितने बड़े-बड़े पंडित महन्त हैं उनको जब पता लगा कि नेहरू जी तमिलनाडु में कुछ हरिजनों में अपने को मुसलमान बताते हैं, तो बड़े-बड़े शंकराचार्य, बड़े-बड़े महन्त सब दौड़ पड़े, अरे यह क्या करते हैं। अफ़ीम का इंजेक्शन लगाते हैं। कहते है—तुम बराबर हो। किसी की सिफारिश कर दिया, किसी को एक परमिट दे दिया। कहा—अब ठीक है घर जाओ। बाकी हमे कौन किस चीज से कोई ताल्लुक नही है। तो जो यह परिस्थिति पैदा होती है या ऐसी स्थितियों में, बाद में बाबा साहेब अम्बेडकर के साथ कि हम हिन्दू समाज में रहेंगे।

और अगर बाबा साहेब अम्बेडकर की बातें आप पढ़ें या सुनें तो लगेगा कि शुरुआत कुछ से कुछ थोड़ी से भी है। विषमताएँ जरूर होंगी अन्यथा यह सख्त जो दण्ड है हम अगर कहें तब यह सही है कि लोहिया जी ने कहा था कि यह अम्बेडकर बहुत गहरे विचारक हैं, बहुत क्रांतिकारी दृष्टि है इनकी।

यह लोहिया जी का विचार है। लेकिन अगर हम लोग केवल ईर्ष्या का ही विरोध उनका करते रहें तो यह सकते हैं कि बाबा साहेब को जयप्रकाश से ईर्ष्या है तो जो यथास्थितिवादी हैं उनको तो यह अधिकार अवश्य है लेकिन अगर हम यह कहें कि जो बातें उन्होंने कही उसको न हम भूलेंगे न भूलने देंगे। ईर्ष्या के अलावा भी उनका एक ढंग है जिसको बताता है थोड़ा बहुत और बिना ईर्ष्या के कि इस सवाल को एक बार पूछते तो एक तो सम्पूर्ण या कौमी एकता का मुद्दा जो है हिन्दू-मुसलमान वाला नहीं है हरिजन है उसका एक राष्ट्रीय इतिहास है। इस सब के साथ नया इतिहास पिछले तीन वर्षों में जिसके बारे में उस समय लोग बहुत ज्यादा यानी ऐसा नहीं है कि पहली बार बहुत ज्यादा जानते रहे या उस स्तर पर फैलने का मौका मिला हो। और वह जिसकी ओर हमारे मित्र वीरेन्द्र भट्टाचार्य ने अभी आपके सामने संकेत किया। यह भी एक जनजाति है। वह है छोटी-छोटी जनजातियों की समस्या—नागालैण्ड, मीजोरम, पूरे उत्तरी-पूर्वीय बेल्ट में उधर चिट्टागोंग, पूरब की ओर मणिपुर, त्रिपुरा जिनके सामने बीच-बीच में यह समस्या खड़ी होती है

हम इस भारत के वाशिन्दे हैं। हम इस बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं। पटना में बैठकर हम आप पूर्वोत्तर को भूलने की कोशिश करते हैं। ये लोग कहेंगे कि हम उस भगवान की सेवा चाहते हैं, जो मारेगा, कुचल देगा, कैद कर देगा और फिर हम पर सवार हो जायेगी। हमारा उनसे बस यह पूछना है कि अपने-अपने कलेजे पर हाथ रखकर टटोलें जो दिल के भीतर जैसी भावना है वह ठीक है न। ये लोग जो गोली खा जाते है, मारे जाते हैं, निकाल दिये जाते हैं, गाँव-के-गाँव उजाड़ दिये जाते हैं। इनसे बहस क्या करें? ये कहते है हम तुम्हारे गुस्से से न हीं डरते और हम कहते हैं कि इसका जवाब हम नहीं देंगे। इसका जवाब हमारी फौज देगी। कभी-कभी वह फौज हमारे ऊपर भी हमला कर देती है। यही पटना और बिहार में जब आप में से बहुतों ने इन्कलाब किया था उसी फौज ने दमन किया। वही फौज थी।

उस समय लगता है यह तो हमारे बगल रहता है, पता नही कौन है, क्या करें इसका नाम भी हमको समझ में कायदे से नहीं आता। एक तो न उसकी भाषा समझ में आती है, वे अपरिचित से लगते हैं, उनका नाम अब्दुर्रहमान तो समझ में आता है। लेकिन अगर उनका नाम किसी और प्रकार का हुआ तो लगता है इनसे हमारी कोई identification नही है। यह भी एक मुद्दा उठा कि यह कौमी एकता पर विचार करने वालों में, यहाँ भी मैं कहूँगा कि सबसे पहले तो इसको यह जो नासूर बन रहा है इसको गंभीरतापूर्वक लिया जाय। उस समय बहुत से लोगो को समझ में नही आया था कि क्या हो गया है। लोहिया पगला गये हैं। एकदम से उन्होने घोषित किया उस समय पहले तो, उन्होंने कहा जो नेफा कहलाती थी। यह नेफा न भारत का शब्द है और न उसका नाम उन्होंने अपने से रख दिया उर्वसीयम् और फिर तत्काल यह जो बना दिया गया है कि बाकी सर्व हिन्दुस्तान का कोई भी आदमी इस उर्वसीयम् मे नही जा सकता सिवाय फौज के। मैं इसका विरोध करूँगा। इसका विरोध करते हुए लोहिया ने सत्याग्रह भी कर दिया। उन्होने कहा—मैं जाऊँगा, ये हमारे भाई हैं। पता नही हमारे फौज वाले इनको मार रहे है, पीट रहे है, क्या कर रहे है। ये तड़प रहे है। परेशान हो रहे है और मैं उनके बारे मे जानना चाहता हूँ क्योंकि शक्ल नही देखी है। न मुझे आजादी है कि मैं जाके उनसे पूछ सकूँ कि भई तुमको क्या तकलीफ़ है। वह भी तो एक हिन्दुस्तानी है और उस हिन्दुस्तानी को भी बहुत प्रकार से शोर-शराबा सिखाया गया है। जब हम इस तरह से इसको देखें तो बिल्कुल स्पष्ट दिखाई पड़ेगा कि यह यथास्थितिवादी कौमी एकता में और क्रांतिवादी कौमी एकता में मुद्दों का और विचारो का, देखने के ढग का बहुत बड़ा अन्तर है।

एक दूसरा उदाहरण देता हूँ जिससे यह बात आपके बहुत आसानी से समझ में आ जायगी 'जिस दिन हिन्दुस्तान आजाद हुआ तो माना यह जाता है कि हिन्दुस्तान को एक राष्ट्र करके बताया' गया ताकि उसके टुकड़े-टुकड़े न हो जायें। एक रखने वालों की मैं कही बात बोल रहा हूँ जिस मामले में जवाहरलाल नेहरू हुए हैं एक और अंग्रेजी भाषा और दूसरा वह चीज जिसे नौकर-शाही कहते हैं; प्रशासन चलाने वाली। यही दो है जो इस समाज को हिन्दुस्तान को बाँधे हुए है। इनमें से एक भी कमजोर हुआ तो यह देश टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा। सन् १९५० में जब हिन्दुस्तान की संहिता लागू हो गई तो यह सब एक ही दिन बहुत आग्रहपूर्वक उस समय नेहरू साहेब की सरकार ने जो वर्ग

या उसके बारे में उनकी हर माँगों को स्वीकार कर लिया। तुम्हारी तनख़्वाह तुम्हारी सुविधायें, तुम्हारे पर्क्स सब ज्यों-की-त्यों वैसे ही सुरक्षित रहेंगे। जैसे अंग्रेजों के जमाने में थे। और इस बात को संविधान में भी दिया और किसी भी वर्ग के हितों के बारे में संविधान में अलग से नहीं लिखा है सिर्फ नौकरशाही के बारे में लिखा है। नौकरशाही को अपने भाषण में जो कहा, वीरेन्द्र भट्टाचार्य जी ने संकेत कर दिया। हिन्दुस्तान का संविधान अमेरिका का संविधान नहीं है। फ्रांस का संविधान नहीं है। नौकरशाही की अलग से क्यों गारण्टी नहीं दी गई है। हिन्दुस्तान ही का ऐसा अद्भुत संविधान है जिसे उस समस्त नौकरशाही को अहमियत दी है। इस गारण्टी का क्या अभिप्राय है। यह कोई आसमान से नहीं टपकी है। हो सकता है कि नेहरू साहेब के रिश्तेदार ज्यादा रहे हों, बहुत सारे थे लेकिन मैं समझता हूँ कि केवल अपने रिश्तेदारों का भला करने के लिए ही नहीं कुछ और भी कारण रहा होगा, बल्कि और सब कारणों में चार-छः परसेण्ट यह भी रहा होगा। लेकिन मूल कारण यह था कि जब हिन्दुस्तान आजाद हुआ और संविधान बनने लगा तो एक समय आई० ए० एस० वालों ने धमकी दी थी कि अगर नये संविधान में हमारे साथ किसी भी प्रकार का रोक-थाम लगाया गया तो हम सब एक साथ इस्तीफा देकर अवकाश ग्रहण कर लेंगे। पंडित नेहरू की घिग्घी बँध गई जो इस राष्ट्र के नेता थे। चूँकि उनके दिमाग में बन गया था कि देश को एक रखने वाला यही शासन का स्टील फ्रेम है, यह टूटा तो गया। बिना स्टील फ्रेम के यह देश कैसे चलेगा। नीचे से यह कैसे चल सकता है। और दूसरी शर्त है यह अंग्रेजी भाषा अगर गई तो देश पिछले तीस वर्षों से खासकर कि हिन्दुस्तान की आजादी के तत्काल बाद हिन्दुस्तान की एकता के बारे में जितने सिद्धान्त राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान बनाये गये थे, वह सब झूठे मान लिये गये केवल दो सिद्धान्त अंग्रेजी भाषा और ब्यूरोक्रैसी प्रशासन यानी यही दो चीजें रह गयीं जो देश को बनाये रखेंगी। इनको तोड़ दो देश टूट जायेगा।

इस समय मैं इसमें नहीं जा रहा हूँ हमारे मित्र प्रोफेसर गोपीकृष्ण साहब मौजूद हैं। ये रिसर्च करके निकलवा सकते हैं कि किस प्रकार हिन्दुस्तान में हमेशा से एक संस्कृति रही है यह सिद्धान्त लोगों में चलता रहा। हिन्दी हम वतन है हिन्दोस्तान हमारा। इकबाल ने कहा १५ अगस्त सन् १९४७ को सबका भेद खुल गया। यह सब दिखाने की चीजें हैं। आजादी के पहले यह जैसा लोहिया ने कहा कि उत्तर से लेकर दक्षिण तक राम ने इस देश को बाँधा—पश्चिम से लेकर पूरब तक कृष्ण ने इस देश

को बाँधा, राम ने उत्तरकाशी तक यात्रा की। कृष्ण ने द्वारिका में अपनी राजधानी बनाई और स्थापित किया। उसमें यह जो सांस्कृतिक एकता की तस्वीरें देखी गई थीं और मामूली नहीं देखी गई थी।

पंडित नेहरू जिस दिन प्रधानमंत्री हुए उसी दिन यह स्पष्ट हो गया कि सिद्धान्त लचर है। एक तरफ तो जिन्दगी भर बोलते रहे—देश का बँटवारा नहीं होने देंगे, देश का बँटवारा नहीं होने देंगे। मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना और बँटवारा कर दिया। यह कोई मजाक है? तो स्पष्ट हो गया। १४ अगस्त को जब दस्तखत किया कि यह सब बातें जबानी कहने की हैं व्यवहार की नहीं—और जब साथ-साथ यह भी तय हुआ कि कितने अफसर इधर होंगे, कितने अफसर उधर के सेना के जनरल, इधर के जनरल। उधर तो साफ दिखाई पड़ने लगा कि यही हमारी एकता का स्वरूप है। तो हम सरकार चला ही नहीं सकते और हम अगर सरकार नहीं चला सकते तो देश की नौकरशाही वह सब जो करे। वह सब गाँधी जी का विचार, तिलक का विचार, गोखले का विचार, हमारे देश के बड़े-बड़े जो पुनर्जागरण खड़ा करने वालों के विचार, स्वामी दयानन्द इन सबके जितने विचार थे देश की एकता के बारे में १५ अगस्त १९४७ को सब नपुंसक मान लिये गये। ये देश को एक नहीं बनाये रख सकते। केवल प्रशासन तन्त्र अर्थात् नौकरशाही केवल एक ओर उसकी जो प्रशासन चलाने वाली भाषा है बस।

आज एकता के नाम पर बहुत-सी बातें पुराने समय की उठाकर बीच-बीच में बोल देते हैं यह सब तुमने देखा होगा। यही प्रशासन न है। यह काहे को समझेगा अब जो इन्क़लाब वाले थे, बदलाव वाले थे, वो उनमें से कम-से-कम दो हजार ये लोग थे जिन्होंने यह कहा कि नम्बर एक प्रशासन तंत्र तो वस्तुतः सिर्फ इसी एकता का अस्त्र नहीं बल्कि इस राष्ट्रीय एकता को दबाकर रखने वाला एक अस्त्र है और किसी भी दिन जब फूटेगा नाला तब जरूर यह स्टील फ्रेम ऐसे टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा जैसे यह बाँस की खपच्ची हो। आज दिखाई पड़ रहा है। कहाँ गये वो स्टील फ्रेम? कहाँ है वह ढाँचा जिसके ऊपर देश की एकता का भवन या जिसको संविधान में आधार बनाया है; वह इस्पाती ढाँचा कहाँ है? आज जो पटना में बैठकर हिन्दी बोलता है यहाँ का दारोगा, उसकी बात तो बहुत दूर है। बगल के सचिवालय का सेक्रेटरी कहता है कौन हो वे तुम, कहाँ गये? जे अफ़सर तै तरह की बात करते हैं। इम बिहार वालों को तो कम-से-कम इस तरह की बातें नहीं करनी चाहिए। यह स्टील फ्रेम कहाँ गया? इस देश को कौन एक रखेगा? क्यों यह

स्टील फ्रेम चल रहा है ? क्यों हर बाबू हर छोटा अफ़सर, छोटे से छोटा अफ़सर, हर चपरासी हरेक की अपनी नीति है। सरकारी नीति नाम की कोई चीज नही रह गई है । प्रशासन की नीति नाम की कोई वस्तु नही है । और मैं चाहूँगा कि इसको समाजवादी समझें क्योंकि मैं केवल दुश्श्रेय कांग्रेस-इंदिरा कांग्रेस को नही देना चाहता और समाजवादी से कहूँगा कि अगर देश में तुम्हारी सरकार बन गई तो तुम भी प्रशासन चलाने में असमर्थ हो। अगर समझो तो मंत्री एक बोलेगा, अफ़सर दूसरा बोलेगा, नीचे का बाबू तीसरा बोलेगा और हरेक की अपनी अलग-अलग पालिसी है, कहाँ ले जायेगा ये । इसलिए कि जैसे-जैसे आर्थिक संकट, सामाजिक संकट, सांस्कृतिक संकट इस विषमता के कारण संकट गहराता जायेगा वैसे-वैसे यह स्टील फ्रेम उस आग के बीच ऐसे पिघलता जायेगा जैसे मोम हो । अब तो केवल उसके ध्वन्सावशेष हैं । अब ये स्टील फ्रेम प्रशासन चलाने वाला तंत्र नही है । अब यह स्टील फ्रेम भाई भतीजो को नौकरी देने वाला तंत्र है । इसका केवल यही उद्देश्य है । एक ऐसा ढाँचा बना ले सरकार के अन्तर्गत कि हमारे भी चार भाई जातिवाले आ जाएं इससे अधिक उसका कोई उपयोग नही है । कुछ नही कर सकते ये नौकरशाह और चीजों की तो छोड़ दो जो अंग्रेजों के जमाने से करते रहे हैं केवल यह माँग कर सकता है और हिस्सा दो, और हिस्सा दो, और हिस्सा दो। हम काम कुछ नही करेंगे । लेकिन राष्ट्रीय आय का १० फीसदी हिस्सा मिले यह नौकरशाही का तथाकथित स्टील फ्रेम है । क्या अब यह स्टील फ्रेम देश की एकता बनाये रख सकता है ? क्या यह विषमता का जवाब निकाल सकता है ?

केवल अधिकार हिस्सा इतना बड़ा माँगते हैं यह लोग ! जनता का आया हुआ पैसा है कर की शक्ल में किसी भी शक्ल में । अतः कल इस हिस्सेदारी के दौरान जरूरत पड़े तो यह वर्ग स्वयं आगे बढ़कर ले लेगा । यही तो दिक्कत है इस देश में क्योंकि इसका कोई (vested Interest) देश को एक रखने में नही है और तब क्या किये जायें राष्ट्रीय एकता के लिए ? क़ौमी एकता के लिए कहाँ जाय ? कोई किसी का नही है तब वापस उसी अपने परम विश्वास के पास कि इस देश की ही संस्कृति से इस देश की ही मिट्टी से हम उसी देश की मिट्टी से दोनों उत्पन्न हुए हैं । इस समाज को एक करने वाले को भी और भीतर से इस समाज को उलटने वाले को भी विषमता के विरोध मे खड़ा होना चाहिये । इसी में से निकलेगा । चाहे वह गाँव

का हो, अनपढ़ किसान हो जिसके अन्दर जो स्वयं भुक्तभोगी है। तमाम शोषण का शोषण जिसके ऊपर है, वह दरिद्र किसान है जिसके ऊपर इतना बड़ा जो यह ढाँचा खड़ा है यहाँ से लेकर वहाँ तक जो कुछ भी नहीं करके एक गेहूँ नहीं पैदा करता लेकिन इनका काम इनके साथ पक्षपात है—पता नहीं चलता जब गेहूँ पैदा कर लिया तब उन्होंने कहा अब जिसके पास और सारा कानून सारा ढाँचा सारा प्रशासन इसी के लिए है। कर लेकर और पैसे आपस में बाँट लें। इससे बढ़कर दमन और शोषण क्या हो सकता है? समाज को बदलने की जरूरत क्यों है? क्योंकि उसका अंग-अंग दर्द कर रहा है, कोई इधर चढ़ा है, कोई उधर चढ़ा है, कोई पीठ पर चढ़ा है, कोई सर पर चढ़ा है और सब चरमा लगा-लगाकर उसका खून निकाल रहे हैं। तो इसका तो अंग-अंग दर्द कर रहा है। वह जानता है कि छाती पर चढ़ा हुआ क्या होता है और उस सबके बावजूद जिसके भीतर में से हिन्दुस्तान बोल रहा है तो वह बिना किसी भाषा, किसी सिद्धान्त, किसी स्कूल के वह जानता है कि रामेश्वर और कैलाश यह एक ही चीज है, वह जानता है उसका मतलब। अनपढ़ आदमी के बारे में भ्रम फैला हुआ है कि वह नहीं जानता है। वह जानता है जैसे किया है। चाहे वह खुद जाए चाहे नहीं जाए। अगर उसको आज पता लग जाए कि रामेश्वर के ऊपर विदेशियों ने कब्जा कर लिया और तुम जाकर के एक नंगे आदमी से कहो, सुना तुमने रामेश्वर पर कब्जा कर लिया वही जहाँ रामचन्द्र जी ने शिव की स्थापना की थी। तुरन्त उसको लगेगा उसकी अपनी जमीन पर जबर्दस्ती जैसे किसी ने कब्जा कर लिया है। क्योंकि उसके भीतर सचमुच वह है।

१५ अगस्त १९४७ को जब यह तय हो गया कि यह सब हवाई बातें थी कोई यथार्थ नहीं और यथार्थ केवल यह प्रशासन तंत्र है तबसे इसका महत्त्व कम हो गया लेकिन वास्तविकता यह है कि दोनों का सम्पूर्ण क्रान्ति और राष्ट्रीय एकता का वही वाहक है, वही सम्पूर्ण क्रान्ति का भी वाहक है, वही वास्तविकता है, उसको बहुत समझाने की जरूरत नहीं पड़ती है। इस बात को लेकर कि यह सब बड़े-बड़े झगड़े हैं जो हिन्दू मुसलमानों के तनाव को लेकर होते हैं अपनी तरफ से वह समझ जाता है। उसी तरह से चाहे पढ़े-लिखे लोग हों चाहे सामान्य जन हों। मैं इलाहाबाद में रहता हूँ, तीर्थराज है तो सारे हिन्दुस्तान से गाँव से जाने कितने-कितने यात्री और यात्रिणियाँ रोज ही आया करते हैं बिना किसी कष्ट के उनकी तीर्थयात्रा भी पूरी हो जाती है और वह समझते ही हैं कि चावल कैसे लिया जाता है, दाल कैसे लिया

जाता है वह अपना काम अच्छी तरह चला लेते है और बोध गया भी चले जाते हैं—पूरे हिन्दुस्तान घूम आते हैं बिना अंग्रेजी माध्यम के इस एकता का दर्शन आपको बहुत आसानी से हो जायेगा। यह जो नितान्त अनपढ़ आदमी है यह अपने आप केवल सांस्कृतिक आदान प्रदान में ही नहीं अपने आर्थिक क्रिया को भी अपना तरीका गरीबों और देश की समस्त भावनात्मक एकता बनाये रखने का तरीका अपने आप ही निकाल लेता है। बिहार से जाने वाला बंगाल में काम करता है उसको अन्य चाहे जितनी कठिनाइयाँ हों क्या कोई ऐसी भी शिकायत करता है कि वहाँ तो कोई बिहारी नही समझता है।

अन्य कठिनाइयाँ हो सकती है—ठेकेदार सताते हैं और दुनिया भर की बातें हो सकती हैं लेकिन अपना काम वह चला लेता है। अपना जितनी उसकी अर्थ व्यवस्था है और जितनी उसकी सांस्कृतिक जरूरत है उतने भर का काम वो यहाँ से उठाकर उसको रामेश्वरम् भेज दीजिए—तो भी चला लेगा जिस तरह से रामेश्वरम् वाला जब बोध गया जाता है तो यह माना गया कि जिस स्तर पर यह आदमी अपना काम चलाता है वह बहुत छोटा स्तर है, इस स्तर के ऊपर बड़े-बड़े खास किस्म का वैज्ञानिक चिन्तन नही हो सकता, बड़ी जटिल समस्याओं पर प्रकाश नही डाला जा सकता, बड़े-बड़े पैमाने पर आर्थिक विकास वगैरह नही हो सकता अतः यह जो हल निकाला सामान्य आदमी ने, गरीब आदमी ने, यह हल हमारी राष्ट्रीय एकता का हल नही है। और जो इसमें जो कुछ निकाला हो चाहे वह बंगला असमी से निकाला हो, हिन्दी से निकाला हो किसी भाषा के जरिये निकाला हो तो सब लोग कहने लगे ये अविकसित भाषाएँ है इसमें इतना विकास नही जितना अंग्रेजी में। और विकास का मतलब यही है कि जो बड़े-बड़े भाखरा डैम है तो वो भाखरा डैम किस भाषा में लिखते है। आप इस पर विचार करें।

एक विदेशी ने कहा कि साहेब आपके यहाँ से दक्षिण वाले आते हैं—कहते हैं कि हिन्दुस्तान में अंग्रेजी बहुत जरूरी है आप लोग कहते हैं हिन्दी के बगैर हम लोगों का काम नही चल सकता तो क्यों आप लोग झगड़ा करते हैं ऐसा क्यों नही करते कि अच्छा आपको अंग्रेजी से नफ़रत है आप दूसरी भाषा चलाइए। रूसी को चलाइए मुझे कोफ्त होता है। मैंने कहा मुझे इस बात का मजाक नही अच्छा लगता और आप अपनी गलतियों को देखते हुए

साहस कर सकते हैं इस तरह की बात करने का। मैंने इसलिए इसका जिक्र किया कि किसी भी दूसरे देश की भाषा ज्ञान का साधन बन सकती है यह अलग मत है लेकिन देश की एकता का साधन बन सकती है, कभी नहीं ! वह हमेशा विदेशी है।

आज अगर हम इस बात की गवाही (सफाई) चाहते हैं तो उसको यों समझें यह हमारे मित्र हैं बीरेन्द्र भट्टाचार्या इन्होंने उपन्यास भी लिख रखा है। बीरेन्द्र भाई—हिन्दी नहीं जानते। मैं असमिया नहीं जानता। हमारे इनके बीच में बातचीत मजेदार है—अंग्रेजी में बात होती है। हालांकि मुझे शर्म आती है इनको तो टूटी-फूटी हिन्दी आती भी है मुझे तो टूटी-फूटी असमिया भी नहीं आती कि बोल सकूँ। तो हमारे और बीरेन्द्र भट्टाचार्या के बीच में या तो टूटी-फूटी हिन्दी में बात होती है या अंग्रेजी में बात होती है। लेकिन बीरेन्द्र भट्टाचार्या ने लिखा क्या है मैं जानता हूँ। और आज से नहीं बहुत पहले से, इसलिए जानता हूँ, इनका लिखा हुआ हिन्दी में अनुवाद होता है। इसलिए बीरेन्द्र भट्टाचार्य से जब कभी मुलाकात करूँ तो पहले अंग्रेजी में बात हो लेकिन अगर बीरेन्द्र भट्टाचार्य कहें कि मेरी भावना उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद में रहने वाले एक अनपढ़ प्रोफेसर साही को जिन्हें कोई भाषा हिन्दुस्तान की सिवाय हिन्दी के नहीं आती उन तक पहुँच जाए। तो ऐसे अनपढ़ आदमी को अंग्रेजी के माध्यम से अभी नहीं मिल पाएगी। अभी बीरेन्द्र भट्टाचार्या को कम-से-कम दो सौ वर्ष इन्तजार करना पड़ेगा जब इनकी ये स्टेटस (status) बन जायेगी कि अब इनका भी अनुवाद अंग्रेजी में हो। क्योंकि अभी तो वह बहुत सा बंगला में पड़ा हुआ है, बहुत सा संस्कृत में पड़ा हुआ है क्या-क्या अंग्रेजी में अनुवाद करने को पड़ा हुआ है। और मुझे चाहिए वह जो आजकल कहा जा रहा है, जो इस समय बीरेन्द्र भट्टाचार्या, हमारे उम्र वाले, हमारे अनुभव से गुजर रहे हैं, उनका क्या कहना है। मैं क्या करूँगा यह जानकर के कम्बन रामायण में क्या लिखा है वह सब तो रूढ़ है लेकिन आज जो लिखा जा रहा है किताबों मे जो मेरी उम्र का लेखक, जो आज महसूस कर रहा है वह जो तड़प है कैसे जानूँगा ? तो या तो बीरेन्द्र भट्टाचार्या पीछे-पीछे किसी अंग्रेजी के प्रोफ़ेसर के दौड़ा करें कि मैंने एक उपन्यास लिखा है, एक नाटक लिखा है साही साहेब जान जाएँ कि इसमें क्या लिखा है, आप कृपा करके इसका अनुवाद कर दीजिए। वे पता नहीं क्या कहेंगे क्या नही कहेंगे। और उससे कहीं ज्यादा आसान है कि

वह हिन्दी में छप जाय। महीने भर के अन्दर हिन्दी में छाप देगा। बंगला का कोई लेखक ऐसा नहीं होगा कि जिसका हिन्दी में अनुवाद न हो। मेरी समझ में नहीं आता। तुम्हारे इतने लेखक हैं जिनको मैं जानता हूँ केवल बंगला लिखते है। शरच्चंद्र को कौन नही जानता है इतना अधिक अनुवाद हुआ है शरच्चंद्र का दुनिया की सारी भाषाओं में। लेकिन बिहार के अन्दर बच्चा-बच्चा भी जरा भी हिन्दी पढ़े होता तो शरच्चंद्र को जानता होगा। कोई उपन्यास पढ़े होगा। देवदास को वाग्दत्ता का श्रीकान्त को स्वत: से जानता है अच्छी तरह जानता है शरच्चंद्र क्या लिखते है। अंग्रेजी की जरूरत है? अगर अंग्रेजी के जरिये बंगला साहित्य कुछ जानता है तो शायद गीताजलि के अलावा और कुछ नहीं जानता होगा लेकिन विमल मित्र का उपन्यास बंगला में बाद में छपता है हिन्दी में पहले छपता है। यह सही है कि नही? ये इसको पता कीजिए न जाने कितना अनुवाद हिन्दी में छपता है उनको जिनको आप जानते हैं जैसा कह दीजिएगा कि मेरी एक किताब है हिन्दी में छाप दीजिए हम इंतजार करेंगे? हम आज जानना चाहते हैं क्या हो रहा है। तब हम जानते है कि प्रयाग की मिट्टी कैसी है, उदयपुरा की मिट्टी कैसी है। सुन्दर वन की मिट्टी कैसी है, जिस धरती माता पर खुला आकाश है उस बंगला की मिट्टी कैसी है वहां के लोग कैसे हैं। क्या उनको दु:ख है, दर्द है, वहाँ की संस्कृति वहाँ की कुण्ठा रुझान, वहाँ की निराशा आशा सब हमको चाहिए। इसे न अंग्रेजी देगी? न स्टेट्स मैन में वह सब है, न नादर्न इंडिया पत्रिका बिहार के जो कितने अखबार हैं अंग्रेजी के जितना कि तब के लेखक।

हमने कहा ठीक है, पत्रकार से कह दो। अंग्रेजी अखबार के बारे में समझ में आता है लेकिन यू० पी० अंग्रेजी का अखबार पढ़कर आपको अंदाज लगेगा बिहार का एक जवान वह भी है कि: 'ये नक्षत डूब रहे''''भारतवर्ष हमारा' यह कैसे अंग्रेजी भाषा में आएगा? आयेगा ही तो अल्प या अर्ध जैसा टाइम्स ऑफ इंडिया में आया—लेकिन उस कविता की जो वाणी है उसमें जो तड़प है वह कैसे आयेगी? उसी के लिए तो हिन्दी चाहिए। उसको अगर वह दिखाना चाहता हो यह भीतर से आया है यह नैशनल इंटग्रेशन यह जड़ से है। ऊपर से नहीं। जब जड़ भीतर से कसमसायेगी तो ऊपर से मिट्टी भी बदल देगी। तोड़ देगी चट्टानों को। जब चट्टान ही ऊपर से विस्फोट करे सीमेन्ट लगाकर के ठीक करना है तो यही सब होगा कौमी एकता जो हर बार होता है। आग लगती है, दंगे होते हैं, फ़साद होते हैं तब तोता रटन्त की भाँति कुछ अरे ये इक़बाल ने लिखा है, भारतेन्दु ने लिखा है, अरे इसको पढ़िये तोता रटन्त की भाँति, दस आदमी

मिलते हैं, अपना-अपना महँगाई भत्ता और सब टी० ए० यात्रा शुल्क बनाते हैं और घर जाते है क्योंकि वे जानते हैं कि उनका काम कुल वक्तव्य देना है असली काम तो पुलिस का है। सब जानते हैं। नेशनल इंटेग्रेशन भी कोई डी० आई० जी० की रैन्क नहीं है। दंगा हो गया है बिहार में -- बताइए कि आप लेखक हैं---जहाँ आपने सौ इधर किये सौ उधर किये। कुछ दिन बाद आते हैं नेता, कहेंगे—प्रौफेसर हम बात क्या करें इसके बारे में क्या विचार है?' मासूमों के खून से दर्द को कलंकित न करो। वैसे तो मैं सोचता हूँ बिहार में ज्यादा अच्छा होता। 'मासूमों के खून से जनतन्त्र को कलंकित न करो' यह ज्यादा अच्छा रहेगा।

यह सब क्या है? कुछ नहीं लिखने वाले को और सरकार को, प्रशासन को मासूमों का खून ऐसा लगेगा जैसे आयोडीन का फाहा है। कोई भी हो इसके लिए युगधर्मिता ही है यह कहाँ जाय। ऐसा नहीं है कि क्रान्तिकारी कहेगा कि यह बात बिलकुल नहीं कहना चाहते कि मासूमों के खून से हमको कहना मूलतः यही है कि जब तक हम इसको भीतर से विषमता को बदलने का प्रयास नहीं करेंगे उसके भीतर से जो एकता निकलेगी वही एकता वास्तविक है। विषमता को कायम रखने के लिए जो है वह एकता वास्तविक नहीं है। सभा को समाप्त करने के साथ-साथ एक विशेष थोड़ी सी समस्या खास तौर से मुसलमानों के साथ। डाक्टर लोहिया ने एक दिन कहा था कि शेरशाह रजिया तीन-चार नाम लिये थे। मलिक मुहम्मद जायसी हमारे पुरखे थे, पूर्वज थे और बाबर मुहम्मद गोरी गजनी ये हमलावर थे। फिर ये बात बहुत उचित है, इसी पर एक जगह और उन्होंने कहा कि कितने हिन्दू है जो खुले दिल से कह सकते है कि शेरशाह रजिया और मलिक मुहम्मद जायसी सचमुच हमारे पुरखे थे। और इसके आगे उन्होंने कहा कितने मुसलमान है जो खुले दिल से कह सकते है कि बाबर और गोरी हमलावर थे? इसके अलावा मुसलमान इतिहास के बारे में अगर इस सूत्र को आप चलाएँ, विचार करें तो ऐसा नहीं है कि इस पर लोहिया ने बहुत समस्त विचार कर कायम किया है। सूत्रों में कही है, वह विचार करने की चीज है। क्योंकि बहुत-सी बातों के उन्होंने संकेत दिये लेकिन बहुत से प्रश्नों का उत्तर उस सूत्र में नहीं मिलेगा। लेकिन एक जगह उन्होंने कहा कि मुसलमानों के इतिहास में ऐसा होता रहा कि एक लहर आई १२०० आक्रमणकारियों की वह यहाँ बस गई फिर वह लोग अपने को हिन्दुस्तानी समझने लगे। तब तक दूसरी आक्रमणकारियों की लहर आई उसमें से कुछ

हमारी कुरान में मिल जाते है फिर मुसलमान जब बहुमत में है तो क्या करे। जब सत्ता तक होगा तब पता चलता है। तब सैयद के भी अपने सलाओ चेला जैसे खुमैनी साहेब बहुत लोग जैसे कर रहे हैं। जियाउलहक साहेब कर रहे हैं इसका न हदीस में और न कही कुरान में कोई जिक्र ही नही है कि तुम जब अल्पमत मे रहो तो क्या करो। इसलिए मुसलमान जब अल्पमत में है तो उसे धर्मनिरपेक्षता चाहिए सत्ता में है तो कहता है कि सिवाय इस्लाम के और कोई धर्म नही चलेगा। एक जबान दो फाँक। लेकिन दोनों को वह मिला देता है अगर एक को ही ठीक तौर से माने कोई हर्जा नहीं है। उसके भीतर एक-एक फांक है इसलिए कि उसके अपने सिद्धान्तो को विचारों— परिस्थितियों की पूरी तौर से विशेपता है और न हिन्दुस्तान के इन्कलाब मे इससे मदद मिलेगी। यह बात तो लिखी है कि कुरान मे क्या लिखा है, हदीस में क्या 'कहा है। मुहम्मद साहेब ने क्या कहा है। यह सब तभी जानते है तब खड़े होते हैं, जब मुसलमान सत्ता मे हो। सत्ता में जब हिन्दू हो तब ? तब बाकी समाज में क्या लिखा है। इसको भी सोचने की जरूरत है कि नही ? और बाकी समाज में भीतर जो इन्कलाब चल रहे हैं उनके साथ कैसे चलें तब उन्होंने कहा कि जितने मुल्ला लोग हैं ये केवल उस हदीस और कुरान की उस आयतो का जिक्र करते हैं जिनका कि आज मुसलमान के जीवन से कोई संबंध नही है इसलिए इसका जिक्र किया है। कहा कि जो विचार करते हैं जो तुम्हारी औकात नही है वो विचार मुसलमान को गुमराह करते हैं। आज मुसलमानों में ऐसे नेता निकल रहे है जो कहते हैं जैसे हम आपको अच्छी तरह से जानते हैं कि केवल मनुस्मृति के आधार पर हिन्दू समाज नही चला सकते चाहे जितने बड़े शंकराचार्य हों चाहे जितने बड़े दुनिया के आर्य समाजी, जितने बड़े महन्त और सिद्धान्त की बात करें जितनी मेरी उम्र भी जाती है समाज को बनाने में तो भी इस कार्य को करेंगे। हम तो जनेऊ तोड़ेंगे चाहे जो हो। आखिर जयप्रकाश जी ने तोड़ा न। किसी महन्त से आकर इस पर राय ली कि जनेउ तोड़ना चाहिए कि नही ! यहाँ पर सीधी विषमता दिखाई पड़ती है कि नही।

न लिखा हो तो अच्छा ही है। लेकिन अगर पंडित लोग बहुत पीछे पड़ें जैसे कि यह लिखा है आपने कैसे तोड़ दिया तो हम कह देंगे यह सब हम नही मानते इतना चल जाता है। यही बहुत है। आज एक मुसलमान को यह भी है अगर हम राष्ट्रीय एकता के नाच पर इन शक्तियो को एकदम उपेक्षित कर दें या ज्यादा गहरे से देखें तो जो मुस्लिम समाज की विषमतायें है उनमें जो

चलती हैं उसका विरोध करें। तब क़ौमी एकता होगी मुस्लिम संदर्भ में भी है।

यह मैंने आपके सामने कुछ मुद्दे रख दिये कुछ इसमें प्रश्न के रूप में हैं कुछ इसमें उत्तर के रूप में हैं और कुछ विचार की चौहद्दी तय करने को हैं। आशा करता हूँ इस पर आप लोग सम्यक् विचार करें, अपने आपको लेकर डर-डर के न बोलें।

□□

सम्पूर्ण क्रांति के सामाजिक और सांस्कृतिक पहलू

बन्धु कर्पूरी जी और मित्रो पहली व्याख्याओं की तरह आज की इस गोष्ठी के विषय की भी व्याख्या बहुत स्वीकृत है। विषय जैसा बताया गया 'सम्पूर्ण क्रांति के सांस्कृतिक और सामाजिक पहलू' इसको बार-बार दोहराने की जरूरत नहीं है कि किसी भी क्रांति के सारे पहलू एक-दूसरे में इस तरह गुँथे हुए रहते हैं कि एक का जिक्र करते ही दूसरों का जिक्र और विश्लेषण या तो जरूरी हो जाता है या इसे उसमें अंतर्मुक्त मान लिया जाता है। मैं इस चर्चा से शुरुआत आपके सामने एक प्रमुख अंतर्विरोध से करूँगा जिसको हम सभी देखते हैं और जिसके बारे में, कभी खीझ से, कभी झुँझलाहट से, कभी गुस्से से, कभी निराशा से जिक्र किया करते है वह है जो किसी भी तरह के बदलाव का जो राजनीतिक पहलू है, सरकार के पलटने वाला पहलू उसमें है और उस बदलाव के जो सांस्कृतिक और सामाजिक पहलू है इनमें अक्सर अंतर्विरोध पैदा होता है और परस्पर टकराव होता है। इनके जो आंतरिक पक्ष हैं उनको बजाय प्रश्न और व्याख्या के बाद देखने के, कभी-कभी गुस्से में कहते हैं कि ये एम० एल० ए० सब बदमाश निकल जाते हैं और ये मिनिस्टर सब पाजी हो जाते हैं। पहले तो बड़ी-बड़ी इन्क़लाब की बातें करते हैं जब एक मर्तबा चुन लिये जाते हैं तब सब जाकर भूल जाते हैं और प्रतिक्रियावादियों की तरह व्यवहार करते हैं। तो एक तरीका तो इसको देखने का यह है कि जो कोई भी जायेगा वह पाजी निकल जायेगा यानी सत्ता के पलटने की, सरकार को बदलने की जो पद्धति है उसका जो राजनैतिक पहलू है यह आप मानकर चलते हैं कि पाजी लोगों के हाथ में जायेगा या अगर सभ्य आदमी के भी हाथ में जायेगा तो एक मर्तबा सब हो जायेंगे पाजी। तो अक्सर इसका विचार-विमर्श परस्पर चरित्र के छिद्रान्वेषण के रूप में करते हैं। इसे तो बड़ा अच्छा आदमी समझते थे यह तो बदमाश निकल गया। एक तरीका—सोचने का यह ढंग है, कि यह सब व्यक्तिगत कारणों से होता है। आदमी व्यक्तिगत रूप से पाजी है। दूसरा ज्यादा आप गहरे सोचें तो इसको इस तरह सोच सकते हैं या कम-से-कम इस पक्ष पर विचार कर सकते हैं।

यह जो राजनीतिक पहलू है परिवर्तन का इसमें और जो सामाजिक और सांस्कृतिक उद्देश्य है जिसके साथ-साथ राजनीतिक परिवर्तन होता है इनमें आपस में अंतर्विरोध क्यों पैदा होता है? जो सांस्कृतिक और सामाजिक पहलू है उसके प्रतिनिधि कार्यकर्त्ता कि जिनको एम० एल०ए० का टिकट नहीं मिला था या जिन्होंने एम० एल० ए० का टिकट लेने में सच-मुच कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई जो ज्यादा बड़े उद्देश्यों की चर्चा करते रहे, कुछ दिनों बाद ये कहते है कि ये जो कल तक हमारा दोस्त था एम० एल० ए० होने के बाद हमको भूल गया। यदि यह जो राजनीतिक बदलाव हुआ यह एक सामाजिक बदलाव का—एक राजनीतिक बदलाव का प्रतीक हो गया। उसमें वह कार्यकर्त्ता जो छूट जाता है वह तड़पता है कोशिश करता है कि अबकि बार मुझे भी एम० एल० ए० का टिकट मिल जाय। पचास गाली देता है—सब बेईमान इसमें घुस गये हैं। एक मैं ईमानदार छूट गया हूँ। जब वह किसी तरह मिल जाता है उसको एम० एल० ए० का टिकट तो बाक़ी सब कहते हैं लो यह भी गया बदमाशों में, और यह प्रतिक्रिया चलती रहती है जो एक तरह की निराशा—एक हताशा पैदा करती है और इस तरह का नकली वर्ग संघर्ष पैदा हो जाता है; पार्टियों में एम० एल० ए० और गैर एम० एल० ए० के बीच, मिनिस्टर और गैर मिनिस्टर के बीच और कुछ चीजो को लेकर बहुत मजा आता है मुझे राजनीति की चर्चा करने में। बाक़ी आदत छूट गई। इस अनुभव से कम या बेश हम आप सभी गुजरे हैं और उसकी वजह से आन्दोलन की जो सम्पूर्ण क्रांति क्या अधूरी क्रांति को भी जो उसमें कुंठा जो बहस, जो खीझ, जो झुंझलाहट जो कड़ुवाहट पैदा होती है और उसकी वजह से सब काम ठप्प हो जाता है उसके भी अनुभव है। आज शुरुआत चाहता हूँ क्योंकि मैंने यह देखा है कि कार्यकर्त्ता व्यक्तिगत रूप से इन बातों पर बहस चरित्र के स्तर level पर तो बहुत करते हैं लेकिन वैज्ञानिक ढंग से उसका या कम-से-कम यह सोचने की कोशिश, नहीं, करते कि ये होता क्यों है। सीधा ढंग सोचने का तो यह है कि हम एक ऐसा तरीका बना लें कि जो वास्तविक इन्कलाबी हैं उनको एम० एल० ए० गिरी के चक्कर में या मिनिस्टरगिरी के चक्कर में पड़ना ही नहीं चाहिए। उनको अलग रहना चाहिए। लेकिन हम यह भी हल अगर निकाल लेते हैं तो जिसे हम सम्पूर्ण क्रान्ति कहते हैं उसी को असम्पूर्ण कहने लगते हैं क्योंकि हम यह मानकर चलते है कि सामाजिक सास्कृतिक बदलाव के आदर्शों में और राज-नीतिक बदलाव के आदर्शों में कभी कोई समान तत्त्व था ही नहीं और इसलिये

भले आदमी का काम है कि इन सब चक्कर में पड़े ही नहीं। कुछ दिनों बाद ऐसा कार्यकर्ता एम०एल०ए० वालों से अपने को चरित्र में कुछ ऊँचा समझता है, ये सब तो गिर गये हम ही कुछ साधु बने हैं और इससे भी ज्यादा खतरनाक और आगे नतीजे निकलते हैं जब ये जो बचे हुए लोग हैं—जैसा गांधीवादी आन्दोलन के साथ हुआ, वह अपना एक मठ बना लेते हैं। जैसे सर्वोदय मठ बनाया उन्होंने कसम खाई, हम एम० एल० ए० नहीं बनेंगे। हम राजनैतिक सत्ता के निकट नहीं जायेंगे। मिनिस्टर नहीं बनेंगे। हम अपने को सृजनात्मक कार्यों में लगायेंगे। ये निर्णय वहीं से निकला, कि जहाँ यह मान लिया गया, कि जो लम्बे आदर्शों के प्रति समर्पित हैं उनमें और सत्ता के निकट बैठे हुए लोग हैं, उनसे आपस में कहीं कोई ऐसा वैषम्य है कि ये उसको पथभ्रष्ट कर देगा। और इसने उससे अपने को जब काटा तो यह नपुंसक हो गया और जब नपुंसक हो गया तो जब कभी अपनी जवानी की याद आती है कि कुछ मैं भी करता तो लोग खड़े होते—तो रात को राजनैतिक नेताओं और मन्त्रियों से मिलने आते हैं। ऊपर से तो नहीं मिलता, कहता है मैं तो काबिल आदमी हूं कार्यकर्ता हूं—राष्ट्रीय कार्यकर्त्ता, रचनात्मक कार्यकर्त्ता, क्रान्तिकारी कार्यकर्त्ता हूँ। रात को मन्त्री से मिलता है। मेरा एक काम ये फँसा हुआ है, आप करवा दीजिए। अच्छा जन-जागरण का ही कार्य होगा। मान लो रचनात्मक कार्य है कि गाँव में हथकरघा उद्योग लगाना चाहिए। तो मंत्री को कहेगा। सिद्धान्ततः कहता है कि मंत्री से हमारा कोई काम नहीं। मंत्री भी कहता है हाँ, बाबा जी आप वहीं रहिये हम आपका काम करवा देंगे। दोनों को यह सम्बन्ध कुछ दिनों बाद परस्पर कमजोर करने वाला है। मंत्री कार्यकर्ता से केवल इतना चाहता है कि कहीं पर तो पुराने क्रान्तिकारी आदर्शों की माला जपी जाय और समय-समय पर मुझको यह माला चढ़ाने का अवसर मिल जाय और वहाँ जाऊँ तो मेरे ऊपर भी वह माला चढ़ाई जाये। इससे एक स्पर्श क्रान्तिकारिता मेरे अन्दर बनी रहेगी छूकर मैं क्रान्तिकारी बना रहूँगा। गद्दी पर भी बैठा रहूँगा और स्पर्श क्रान्तिकारी भी रहूँगा। और जो कटा हुआ क्रान्तिकारी है खेत में खड़ा हुआ मैदान में गाँव में खड़ा हुआ उसको ये लगता है कि थोड़ा-थोड़ा काम तो कर ही रहा हूँ और आ सकता है एक मेरा मित्र यद्यपि बहुत पाजी आदमी है। कभी-कभी समय पर काम आ जाता है। एक तरह का समझौता दोनों मिलाकर के। सरकार में बैठा मंत्री सोचता है अब तो हमें बस केवल सामान्य कार्य करने की जरूरत रह गई है और बाकी कुछ नहीं। और जो क्रान्तिकारी

है वह सोचता है और जनता को ये सिखाता है कि सरकार से तुमको कोई उम्मीद करनी ही नहीं चाहिए। थोड़ा बहुत जो अपने से गमला, नरिया, खपुआ बना सको बनाते रहो उसी से इन्क़लाब चलेगा।

मैं समझता हूँ कि सम्पूर्ण क्रान्ति की कोई शक्ल बिना सत्ता को अपने में लपेटे हुए नहीं हो सकती। चाहे वह लोहिया के प्रकार की सम्पूर्ण क्रान्ति हो चाहे जे० पी० के प्रकार की सम्पूर्ण क्रान्ति, लेकिन अगर उस क्रान्ति में सरकार किस प्रकार कार्य करती है यह महत्वपूर्ण अंग नहीं है, तो वह इन्क़लाब किसी अर्थ का इन्कलाब नहीं। क्योंकि ग़लत या सही सरकार की कार्य-पद्धति का असर बाक़ी क्षेत्रों पर इतना जबर्दस्त पड़ता है कि वह हर प्रकार के कार्य को या तो कुंठित कर सकता है, बढ़ावा दे सकता है, रोक सकता है, विनष्ट कर सकता है। इसलिए मूलतः इस सिद्धान्त को मानते हुए भी कि सांस्कृतिक और सामाजिक क्रान्ति का दायरा उसकी मंज़िल सत्ता परिवर्तन से ज्यादा आगे तक की मंज़िल है और सत्ता के साथ जितने औज़ार हैं उनसे कुछ ज्यादा बड़े औज़ारों की भी ज़रूरत उसको पड़ती है। यह मानते हुए भी मैं इस सिद्धान्त को कभी स्वीकार करने को तैयार नहीं कि सत्ता के औज़ारों से क्रान्तिकारियों को उदासीन हो जाना चाहिए या यह मान लेना चाहिए कि इनके बग़ैर भी हम काम कर सकते हैं। ये अपने रास्ते जाते हैं हम अपने रास्ते जाते हैं। इतने अनुभवों के बाद अब तो कम-से-कम इस भ्रम में हमको नहीं रहना चाहिए। यह सम्भव नहीं है कि जो क्रान्तिकारी है वह तो विकेन्द्रीकरण की बात करता रहे और जो एम० एल० ए०, एम० पी० और मिनिस्टर वह अपने ढंग से सरकार में केन्द्रीकरण करते रहें और कभी-कभी गांधी दिवस पर या किसी अन्य विनोबा दिवस पर या हिन्दी दिवस पर आकर के ये लोग विकेन्द्रीकरण की भी बात कर दें। और विकेन्द्रीकरण वाले जो हैं वो किसी जगह बैठ करके कुम्हार का चक्का चला करके कहें कि देखो हम विकेन्द्रीकरण कर रहे हैं और बाकी (International monetary fund) से बातें करते रहें। या तो कुम्हार का चक्का इंटरनेशनल मानीटरी फंड पर टिप्पणी करेगा और रोक देगा उसकी गति को रोक देगा। एक चक्का। आई० एम० एफ़० का चलता है एक चक्का कुम्हार का चलता है या तो वो इसकी गति को रोक देगा या यह कह देगा कि यह अपनी जगह चलता रहे वह अपनी जगह चलता रहे यह अपने आपको भ्रम में डालना है। इसी तरह से समाज पर भी यह बात है। एक सामाजिक कुप्रथा मान ली है कि जैसे दहेज प्रथा है उसका हमको विरोध करना है। इसमें संदेह नहीं कि सिद्धान्ततः मैं मान सकता हूँ कि सिर्फ़ क़ानून बना देने से दहेज प्रथा

का अन्त नहीं हो जायेगा। इसके लिए हमें ऐसे स्वयंसेवकों की आवश्यकता पड़ेगी जो इस दहेज प्रथा का विरोध करें और उनके द्वारा उग्र संगठित विरोध हो। इसकी भी तैयारी करनी पड़ेगी। यह सब का सब सरकार नहीं करेगी लेकिन अगर सरकार इस दृष्टिकोण की विरोधी है तो वह पचास तरह से अड़ंगे डाल सकती है उग्र-से-उग्र, संगठित-से-संगठित आन्दोलन में इसके पहले कि वह संगठित हो जायें।

जयप्रकाश जी जिस आधार पर चले थे, पुराने जयप्रकाश जी, को जो मैं जानता था, जब वो संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी के नेता थे तो उस समय तो वह मार्क्सवादी थे उस समय तो वह सीधे मानकर चलते थे कि सरकार के अलावा और कोई परिवर्तन का औजार नहीं है। फिर उनके जीवन में एक ऐसा मोड़ आया कि जिसमें उन्होंने इस चीज पर प्रयोग किया कि हम सरकार को भुलाकर परिवर्तन किस प्रकार करें उसमें भी उन्होंने अपनी जिन्दगी के बीस महत्त्वपूर्ण वर्ष लगाये और जब एक मर्तबा लोहा गर्म हो गया और जयप्रकाश जी ने कहा कि अब तक मैं ठण्डा लोहा पीटता रहा अब मैं गर्म लोहा पीट रहा हूँ तो उनके जो अनुभव हुए वो कैसे अनुभव थे। शुरुआत उन्होंने यहाँ से की कि हमें सत्ता परिवर्तन में कोई दिलचस्पी नहीं है हम तो छात्रों की भी कुछ माँगों का समर्थन करने के लिए खड़े हैं, और कैसे होगा, हमें इसकी चिन्ता नहीं है। परिस्थिति ने उनको वहाँ तक ढकेला जब उन्होंने कहा कि ऐसा लगता है कि गफूर मियाँ को हटाए बगैर इतनी थोड़ी-सी बात भी नहीं होगी। फिर एक कदम बढ़े और उन्होंने कहा, नहीं गफूर ही नहीं पूरी कांग्रेसी सरकार बिहार से जानी चाहिए। जयप्रकाश जी टटोल-टटोल कर बढ़ते गये क्योंकि बीस वर्ष पहले जो उन्होंने अपनी मार्क्सवादी एक अति छोड़ी थी और दूसरी अति पकड़ी थी तो उस रास्ते पर जाने में उनको हिचक पैदा होती थी कि फिर से उन्हें वहीं न शुरू करना पड़े फिर वो जिस नतीजे पर बहुत ही हिचक के साथ पहुँचे थे कि गफूर मियाँ भी कुछ नहीं जब तक वो दिल्ली की प्रधानमंत्री पर हमला नहीं करेंगे तब तक इतनी थोड़ी-सी बात भी नहीं होगी। यह जयप्रकाश जी ने एक-एक करके देश को समझाया और जिस समय वे दिल्ली की सरकार के प्रति उन्मुख हुए तब भी वे यही कहते थे कि मुझे दिल्ली की सरकार से निजी तौर से कोई गिला नहीं है। शायद मैं यहाँ तक पहुँचता भी नहीं। मैं तो इस नतीजे पर पहुँच गया हूँ कि मेरे गाँव की नाली तक नहीं बन सकती जब तक कि पहले दिल्ली की सरकार से टकरा न जाऊँ। इस अनुभव को पहुँचे जयप्रकाश कि छोटा-सा काम भी नहीं हो सकता जब तक दिल्ली

और उसकी शृंखला ऐसी बँधी हुई है। यहाँ से वहाँ तक—तब पता चलता है कि मुकाबला पटवारी से नही है इंदिरा गांधी से है। यह तस्वीर जयप्रकाश जी ने धीरे-धीरे करके देखी और तब उनकी समझ में आया कि राजनीतिक क्रांति—और उसके बाद भी शायद उतनी दूर तक वे न पहुँचते अगर उस दिल्ली की सरकार ने एक कदम और पहल कर दी अपने लिए खतरा समझ कर जयप्रकाश जी को बन्द न कर दिया होता। तब जयप्रकाश जी के लिए यह तत्काल प्रश्न हो गया कि अब दिल्ली सरकार को हटाना ही नहीं इसका विकल्प भी तलाश करना पड़ेगा। तो ठेल-ठेल करके अनुभव से केवल सिद्धान्त की भट्ठी से नही अनुभव की भट्ठी से जो जयप्रकाश जी का आन्दोलन था वह इस नतीजे पर पहुंचा कि बारम्बार हर इन्क़लाब के दौरान हम यह देखते हैं कि जहाँ थोड़ा-सा भी परिवर्तन—असली करने का प्रयास होने लगता है तत्काल उसकी टकराहट सत्ता के प्रतिष्ठानो से हो जाती है तब दिखाई पड़ने लगता है कि कितना जुड़ा हुआ है सब।

एक बात अच्छी तरह समझ लें, कि अब अगर जो लोग अपने को क्रान्तिवादी कहते हैं, या क्रान्ति का सपना देखते हैं, विशेषत: सम्पूर्ण क्रान्ति का, वे अगर अपने दिमाग़ में ऐसी दो मौलिक बात बना रखें कि एम० एल० ए० वाले अलग और सिवान में काम करने वाले अलग दोनों में कभी-कभी साहब सलामत हो जाय खास तौर से रात को। बाकी ये दोनों अलग-अलग तस्वीरें है न इसको उसके बारे में ज्यादा चिन्तित होना चाहिये न उसको इसके बारे में। या केवल इतना हो क्रान्तिकारी की कि जब उसको यह बताया जाय कि अमुक मिनिस्टर भ्रष्टाचारी निकल गया इसने उससे रिश्वत ले ली तब जो फ़ील्ड मे खड़ा क्रान्तिकारी है वह बड़ी जोर से गरजना शुरू करता है सब मिनिस्टर भ्रष्टाचारी हैं इनको निकालो और जब उससे कहो कि अच्छा भ्रष्टाचारी निकला या नही निकला इसकी नीति गलत है इसमें कुछ विचार करो तो वह कहता है मुझे सरकार की नीति से क्या लेना-देना है।

अब देखो यह सोचने के ढंग में फर्क है—क्योंकि भ्रष्टाचार का ज़िक्र करने में कुछ थोड़ा बहुत चरित्र हनन वाला मिर्च का मजा आता है ये कहने में कि अमुक व्यक्ति उमने तो देखिये दो बंगले बनवा लिये ये. राजनीति की चटखारे वाली हैं। इसका कोई भी राजनीतिक असर नहीं पड़ता। मेरे भी कान पक गये है भ्रष्टाचार की बातें सुनकर हिन्दुस्तान में आज—हाल में समस्त क्रान्तिकारियों को विचार करने के लिए कहता हूँ—भ्रष्टाचार corruption हिन्दुस्तान की राजनीति मे non-issue है कोई issue ही नही

है। और जो क्रान्तिकारी हैं जिन्होंने कभी राजनीति में हिस्सा नहीं लिया है उन्हें भी याद दिलाना चाहता हूँ और आपमें से जो एम० एल० ए० रहे होंगे या मिनिस्टिर रहे होंगे या एम० एल० ए० होने के इच्छुक होंगे या एम० एल० ए० लोगों को देखने वाले M. L. A. watchers हैं उनको भी याद दिलाना चाहता हूँ किसी आदमी का एक प्रतिशत वोट आज तक इस बात पर कम हुआ है कि ये भ्रष्टाचारी हैं ? एक आदमी का भी वोट : या एक आदमी का एक प्रतिशत वोट इस आधार पर पड़ गया हो कि यह सदाचारी है ? एक प्रतिशत तो कुछ बहुत बड़ा अन्तर नहीं, शायद दो प्रतिशत से कुछ पड़े। तब भी आप चिल्लाते रहिये कि उन्होंने इतना रुपया जमा कर लिया। बड़े-बड़े नेता वोट के ऊपर कोई असर नहीं कोई असर नहीं। सब एक दूसरे को cancel कर देते हैं। चौधरी चरण सिंह ने कहा कि इंदिरा गांधी ने इतना भ्रष्टाचार किया। जगजीवन राम ने कहा 'हिन्दुस्तान के विरोध पक्ष के सबसे अधिक धन संचय करने वाले नेता हैं चौधरी चरण सिंह।' चौधरी साहेब ने न जाने कितना-कितना रुपया इकट्ठा कर लिया। ये सब अखबारों के चटखारे की चीज हैं सही या गलत इसमें फ़िलहाल नहीं जा रहा हूँ। क्योंकि मैं समझता हूँ कि मैं जब नीतियों के बारे में, दृष्टि के बारे में, दिशाओं के बारे में चर्चा करता हूँ तो भ्रष्टाचार उसका एक अंग है। नीति का एक अंग है—वह स्वयं में नीति नहीं है और इसीलिये मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि यह भी बारम्बार उठता है—अरे इसे तो ईमानदार समझकर एम० एल० ए० बनाया यह तो इतना बड़ा भ्रष्टाचारी निकल गया। कुल चर्चा इतनी। बाकी सब चर्चायें समाप्त। अरे यह 'अ'! मैं अपने को न जाने क्या-क्या कहता था। जब Industries minister हुआ तो कागज वालों से करोड़ों रुपया इसने चन्दा लिया। ये 'ब' इसने बहुत पैसा इकट्ठा किया। ऐसे ही उदाहरण अपने प्रदेश में भी बहुतों के पास हैं।

राजनीतिक-सांस्कृतिक इन्क़लाब की परिवर्तन की बहस इन बहसों के सामने एकदम फीकी पड़ जाती है कोई गम्भीर चर्चा नहीं हो पाती। इसलिए भ्रष्टाचार की चर्चा कृपा करके सामाजिक-सांस्कृतिक विश्लेषण के रूप में आप करें। वह तो ठीक है केवल यह दिखाने के लिए कि मैं सदाचारी, यह भ्रष्टाचारी—कृपा करके क्रान्तिकारी लोग यह आदत छोड़ दें। बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी आप उठाते हैं। यह कहने के लिए कि छात्र वाहिनी सदाचारियों की वाहिनी है और लोकदल या जनता पार्टी या ये सब भ्रष्टाचारियों की जमात है। या कोई दूसरा वर्ग आप कह लें कि ये सब सदाचारी हैं और ये

भ्रष्टाचारी हैं। इसलिये कि ये एम० एल० ए० के भी आस-पास दिखाई पड़ते हैं और हम तो साहेब सिर्फ एक छोटा सा अखबार निकालते हैं। हम तो सदाचारी हैं। क्योंकि आप इससे किसी बड़े पैमाने पर न अपनी छाती चौड़ी कर पायेंगे, न अपनी दृष्टि समृद्ध बना पायेंगे और न शायद अपने साथियों की इतनी जबर्दस्त जिम्मेदारी भी ले सकते हैं। अच्छा मैं तो सदाचारी हूँ लेकिन मेरे बगल में बैठा जो इसी कमेटी का सदस्य है यह भी भ्रष्टाचारी है कि नहीं इसके बारे में भी हमेशा संदेह आपके दिमाग में रहेगा। यह व्यावहारिक तरीके से अल्पज्ञ अविचारशील क्रान्तिकारी का लक्षण है। इसलिए उलटकर वहाँ जहाँ से मैंने शुरू किया था कि राजनीतिक पहलू में और सांस्कृतिक सामाजिक पहलुओं में टकराहट या अन्तर्विरोध क्यों पैदा होता। अगर हम इसका और थोड़ा एक जगह विश्लेषण करें तो हम कह सकते हैं कि एक सतह पर दिखाई पड़ता है कि जो एम० एल० ए० होना चाहता है उसका निजी स्वार्थ एक हद तक यथास्थिति में हो जाता है। जो यथास्थिति की बनी हुई मशीनरी है चाहे जाति के मुखियों द्वारा चाहे ठेकेदारों द्वारा चाहे धनाढ्यों के द्वारा वोट इकट्ठा करने के काम में बड़ी आसानी होती है। न हर्रे लगे न फिटकरी रंग चोखा पक्का! कोई चीज बदलाव करने की बात कहो तो हमेशा यह खतरा रहता है कि इसके पहले कि उसके कारण वोट मेरे बढ़े ये बात कहने पर तत्काल तो वोट घट ही जायेंगे। क्योंकि वोटर के मानस को बदल करके वोट प्राप्त करना—इसके लिए वक्त चाहिए और खतरा भी है—बिना खतरा उठाये जो आज की मशीनरी है।

अब मान लीजिए आप तो हैं जल्दी मे आपको यहाँ से वोट चाहिये। राजगीर से आप एम० एल० ए० के लिये खड़े हैं। एक दो महीने का टाईम मिला है। कभी-कभी तो पन्द्रह दिन का टाइम मिलता है। एम० एल० ए० होने के लिए क्योंकि वह (nomination file) होने तक के दिन तक नहीं तय होता कि टिकट मिलेगा कि नही मिलेगा। आज हम, अब आपने कहा घर जाइए। आप बोले अरे अब हमको तो यहाँ राजगीर में वोट चाहिए। दौड़े आये राजगीर। बड़ी-बड़ी कोठियाँ देखीं। कहा, ये यहाँ असरदार आदमी मालूम पड़ते हैं। इन्हीं चार को मिला लीजिए तो राजगीर का दस हजार वोट पक्का। उन दस हजार वोटों के चक्कर में कौन पड़े। हर आदमी—जितना उम्मीदवार है—इन्ही दस चार के पीछे लग जाता है। इनसे मिल लिये, उनसे मिल लिये; उन्होने कहा—अरे साहब आपको तो हम जरूर देंगे।

४

आप हमारी जात के हैं। आप हमारे मित्र की जाति के हैं। पचास कारण बताये जल्दी तय करवा दिया कौन वोट कहाँ पर मिल जायेगा।

तो जो यथास्थिति है जिनके कारण समाज में आज प्रभुत्व और महत्ता बनी हुई है सामाजिक और सांस्कृतिक उस प्रभुत्व और महत्ता को इस्तेमाल करके किसी भी प्रकार से वोट पा लेना यह एक प्रकार का निजी स्वार्थ हो जाता है या राजनीतिक स्तर का नेता चाहे भी तो इस शिकंजे से छूट नहीं सकता। ऐसी हालत मे कुछ अवसर पर हमेशा उन विवादग्रस्त प्रश्नो को टाल जायेगा जिसके कारण जो यहाँ के आज के समाज व्यवस्था के चलते प्रभावशाली लोग हैं उनके ऊपर लगे हुए उन प्रश्नचिह्नों को उठाने से वह कतरायेगा, क्योंकि जो लोग उसके द्वारा शोषित हैं उनकी तरफ़ से जब वह प्रश्नचिह्न उठायेगा तो उन लोगो तक तो खबर पहुँचेगी नही कि एक तुम्हारा हितैषी खड़ा है। मगर ये जरूर नाराज हो जायेगा : पता नही क्या-क्या प्रचार कर रहा है। इसलिए इसको दबा दो यह स्थिति पैदा होती है। तो डेमाक्रेसी का जो वोट का सिस्टम है उसमे एक अन्तर्मुक्त प्रतिक्रियावादी तत्त्व है। इसका मुकाबला कैसे करेंगे। ये बात सोचना होगा लेकिन यह पहले मान लेना होगा कि आज का जो डेमोक्रेसी का बना हुआ ढाँचा है वोट का—बहुत विनम्रतापूर्वक कहना चाहता हूँ कि डेमोक्रेसी में यदि रेफेरेन्डम भी शामिल कर लिया जाये तब भी यह ढांचा नही टूटता क्योंकि रेफ़रेन्डम की भी प्रक्रिया उसी प्रकार चलेगी। ये ही चार मूर्तियाँ तय कर देंगी कि इन एम० एल० ए० साहेब को वापस करवाना है।

एक हद तक जो कही की भी वर्तमान सामाजिक व्यवस्था है उसके द्वारा जो प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण व्यक्ति ऊपर आ जाते है विभिन्न कारणों से जिनमे से सामाजिक आतंक जिसको कहते है एक प्रमुख कारण बन गया है। सामाजिक आतंक द्वारा चाहे वो द्विज जाति होने का हो चाहे पूँजीपति होने का हो चाहे बड़े भारी जमीन्दार या गृहस्थ होने का हो। विभिन्न कारणों से जो इस समय की सांस्कृतिक-सामाजिक व्यवस्था है उसके कारण जो लोग समाज में तनिक भी ऊपर आ जाते हैं गुण्डागर्दी करके भी आ जाते हैं उनसे तत्काल टकराने की फुरसत और शायद अभिलाषा भी जिस आदमी को जल्दी-बाजी में कही का वोट चाहिये उस आदमी के पास नही है या अगर होती भी है तो वह दब जाती है। जबान पर ताला लग जाता है उस समय वह दबा देता है। यह एक प्रतिक्रियावादी तत्त्व है। इसके विपरीत जो सांस्कृतिक सामाजिक बदलाव का स्वप्न देखना है चाहे वह भी स्वप्न देखना हो जिसे

एम० एल० ए० का टिकट मिला है लेकिन जिसको राजनीतिक पहलू में डाल दिया गया है कि तुम इन्क़लाब के राजनीतिक पहलू को देखो वह भी हो सकता है किसी सांस्कृतिक और सामाजिक पहलू को देखने से उसने शुरुआत की हो जैसे वह राजनीतिक पहलू की ओर चलता जाता है। उसका जो मापदण्ड है वह ग़लत हो जाता है और जो केवल सामाजिक-सास्कृतिक पहलुओं को देखता है वह यह चिन्ता नहीं करता कि १६८२ में क्या होगा। उसके पास इतनी फ़ुरसत रहती है कि अच्छा १६८७, ८८, ६० में क्या होगा इस शताब्दी के अन्त होते-होते तक कितना परिवर्तन हो जायेगा वह इस दृष्टि से अपने को बाँधता है। तो long range और short range स्वप्न की भांति परिवर्तन को देखना, एक dream की भांति और specific project की भांति देखना एक निश्चित मतगणना को आधार करके इनका contradiction पैदा हो जाता है। इनका अन्तर्विरोध पैदा हो जाता है।

सामाजिक और सांस्कृतिक क्रांति देखने वाला कुछ आधा स्पष्ट और कुछ आधा अस्पष्ट स्वप्न देखता है। जब आप कहते हैं कि समय ऐसा आयेगा जब इस देश में सब लोग बराबर होंगे या कम-से-कम सम्भव बराबरी पैदा हो जायेगी। या इस देश के अन्दर में ये खराबियां दूर हो जायेंगी तो आप उत्फुल्ल होकर एक स्वप्न देख रहे हैं। इस स्वप्न की सारी रेखायें बहुत स्पष्ट नहीं दिख रही हैं। लेकिन एक लुभावना स्वप्न है जो आप क्रांति का देख रहे हैं, जीवन कभी-कभी बलिदान करने के लिए भी होता है। आंकड़ा वाला इन्क़लाब कि कुल वोट सत्तर हज़ार पड़े हैं। इसमें से छत्तीस हज़ार कैसे मिल जायें। इस तरह वह जो एलेक्शन लड़ रहा है सोचता है। उस अस्पष्ट सपने के लिए जीवन बलिदान कर देना आसान है। छत्तीस हज़ार वोट कैसे मिलें इसके लिए आदमी जिन्दगी नहीं बलिदान कर सकता। जान-हथेली पर लेकर दरोगा से लड़ जायेगा। गोली का भी सामना कर लेगा, वह नौजवान जो सन् २००१ में समानता का सपना देखता है लेकिन जो सन् १६८२ की १६ मार्च की छत्तीस हज़ार एक सौ तीन वोट का सपना देख रहा है वह जान हथेली पर नहीं रख सकता।

इस प्रकार से कई तरह के (contradictios) राजनीतिक परिवर्तन में और सांस्कृतिक परिवर्तन में पैदा होते हैं। और जब इनमें कोई तारतम्य नहीं रह जाता तब दोनों ही—एक भ्रष्ट हो जाता है, एक नपुंसक। तो इसलिए उसे बहुत संदेह है कि मैं जो बात कह रहा हूँ ये राजनीतिक दल के लोगों को और राजनीतिक या गैर राजनीतिक क्रान्तिकारी कार्यकर्ताओं को। कितनी दूर तक सोचने को मजबूर करेगी। लेकिन जितने साफ लफ़्ज़ों में मैंने स्वप्नदर्शी

क्रान्तिकारी से कहा कि भ्रष्टाचार की बातें करना बन्द कर दो। तुम्हारे और एम० एल० ए० के बीच में कोई वर्ग संघर्ष नहीं है। बहुत स्पष्ट कहा शुरू-शुरू में। उतने ही जोर से, कुछ अधिक जोर से एम० एल० ए० और मंत्रियों से कहना चाहा कि नोट गिनना बन्द कर दो। कुछ यह भी याद करो कि सन् २००१ के लिए भी कुछ देख रहे हो जिसके लिये जान देने की भी तैयारी है? हम समझते हैं कि जो एम० एल० ए० होने का स्वप्न देखते हैं वह तो हमारी बात नहीं सुनेंगे हो सकता है जो क्रान्तिकारी हैं वे एम० एल० ए० लोगों को गाली देना बन्द करके उनके दरबार में प्रवेश करेंगे। यह बात मैंने कुछ हताशा के स्वर में कुछ विनोद के स्वर में कहा। लेकिन इसका जो क्रांतिकारी मतलब है वह कहना चाहता हूँ कि ये दोनों अंगों को आग जोड़े हुए है और कायम रखे हुए है। आग लगा दो और परस्पर सामना करके कि लम्बे स्वप्न में परिवर्तन की लम्बी दिशाओं को और जो तत्काल मिनिस्टर बनना और एम० एल० ए० बनना इसकी जो माँग है इन दोनों में कैसे कोई साम्य जोड़ा जाय। मैं बहुत अनुभव से बोल रहा हूँ उत्तर प्रदेश में, बिहार में तो मौका नहीं मिला।

उत्तर प्रदेश में भी मेरे बहुत से मित्र जब जनता पार्टी में सरकार बनी तो जो अपने को सोशलिस्ट कहते थे वो मंत्री हो गये। उनमें से कई ऐसे थे जो मिलते थे तो नमस्कार करके कहते थे—साही जी आपसे तो सीखा है मैंने। सच-मुच उम्र में बहुत कम लड़के यंग (goung) आदमी थे उसमें जिनको सचमुच सिखाया था, राजनीति में शुरुआत से कि देखो ऐसे सोचा करो, ऐसे व्यवहार करो और सचमुच ईमानदारी से बोलने में जब वह कोई डिप्टी मिनिस्टर हो गया, कोई मिनिस्टर हो गया फिर मैं उस समय भी कभी-कभी उनमें किसी से कहता : शायद उसका नाम याद हो उसका नाम था राममनोहर लोहिया। याद है उसका नाम ? तो वह झल्लाकर बोलता साहेब साही आप तो बस यही सब बातें करते हैं ! कौन सुनना चाहता है लोहिया को ? मैंने कहा—तुम भी नहीं सुनना चाहते हो ? अब क्या कहें—बहुत आदरपूर्वक मोटर गाड़ी दे दें—जहाँ कहिए आपको ठहरा दें। कहिये आपको मुर्ग-मुसल्लम खिला दें ये सब करने को तैयार हैं लेकिन और बातें नहीं। कार्यक्रम की बातें ! सरकार में बैठकर क्या करेंगे। इसकी बातें मत कीजिए।

ये जो स्थितियाँ पैदा होती हैं मेरी समझ में निराशा और हताशा का बहुत बड़ा कारण है। अब संगठित हिंसा वाला है, वह सें। उसके जवाब को कतरा करके नहीं चेत सकते वैसे भी मेरी एक बात अगर मुझे कहने को हो तो वह कह देगा कि असंगठित अहिंसावादी से संगठित हिंसावादी कहीं बेहतर है। जो

लोग केवल बैठकर के गप्प लड़ाते हैं और अहिंसा को संगठित नही कर सकते, असंगठित अहिंसावादी हैं उनसे कहीं अच्छे वे हैं जो सामाजिक परिवर्तन के लिए कम-से-कम हिंसा को संगठित करने की कोशिश करते हैं। उनसे भी ज्यादा अच्छे और प्रभावी वे हैं जो अहिंसा को संगठित करने की कोशिश करते हैं। लेकिन इस भ्रम मे न रहना कि जो लोग कुछ नही करते हैं केवल अहिंसा का जाप करते है वो सुपीरियर (superior) हैं या बड़े हैं। उन लोगो से तो ये बड़े हैं जो कम-से-कम अपनी जान हथेली पर रखकर गाँव-गाँव हिंसा को कम-से-कम सामाजिक दमन के विरुद्ध करने को संगठित करने का प्रयास कर रहे हैं। मेरे मन में कोई भ्रम नहीं है इसको लेकर।

नक्सलाइटों (naxalites) की आलोचना करने का अधिकार केवल उस व्यक्ति को है जो समाज के उन शोषण के प्रश्नों पर अहिंसात्मक संघर्ष को संगठित करने का प्रयास कर रहा है। अगर वह कुछ नही कर रहा है और केवल (naxalites) की आलोचना करता है तो उसको डिप्टी इंस्पेक्टर जनरल या इंस्पेक्टर जनरल का चमचा समझो और वह वस्तुतः चमचा है। नाम वह चाहे गाँधी का ले चाहे जयप्रकाश का। मैं इसलिये कहता हूँ कि अपने मरने कि कुछ दिन पूर्व राममनोहर लोहिया ने तीन लेख नक्सलवादियों के ऊपर लिखे। और मैं चाहता हूँ कि कम-से-कम वह लोग जो लोहिया को कुछ भी सोचते हैं कि हमारे विचार में कुछ जोड़ने वाले हैं तो लेख जरूर पढ़ें खोजकर, उस समय की 'जन' नामक पत्रिका मे जो लोहिया जी निकालते थे, छपे थे, अंतिम जन की तीन प्रतियां। उसके बाद लोहिया को मृत्यु ने हमसे छीन लिया जिसमें उन्होंने स्पष्ट लिखा कि नक्सलवादियों की बहादुरी की मैं तारीफ करता हूँ।

मुझे इसमें भी ज्यादा बहस नहीं करना है कि संगठित हिंसा बेहतर है अन्याय के विरुद्ध या संगठित अहिंसा बेहतर है। नक्सलवादी अगर समझते हैं कि संगठित हिंसा ही बेहतर है तो वे अपने रास्ते चलें क्योकि वह भी अन्याय का मुकाबला करने की कोशिश है। लेकिन मेरा मन मेरी दृष्टि और मेरा स्वभाव और मेरी विचारधारा संगठित हिंसा को कभी स्वीकार नही कर पायेगी इसलिए मैं अपने भरसक अहिंसात्मक संघर्ष हो को संगठित करने का निरन्तर प्रयास करता रहूँगा। हाँ, फिर उसके बाद अहिंसात्मक संगठन से क्या लाभ है। यह सब उन्होने कहा। लेकिन उसी लेख में उन्होंने यह भी कहा कि अहिंसात्मक संगठन कायरता पर आधारित नहीं है इसका भी आधार बहादुरी होना चाहिए नही तो यह सब झूठ है। तो इसलिये मैंने आपके सामने

यह प्रश्न उठा दिया कि मान लो नक्सलवादियों ने एक तरीका निकाला। वह कहता है कि एम० एल० ए० चुनने के चक्कर में, वोट के चक्कर में हमको पड़ना ही नही चाहिए। शायद वह भी डरता है कहता है। तो सिद्धान्ततः डरता है। वह भी उसी तरह का है जैसा एक समय में बहुत से पुरानवादी (क्रांतिकारी) कि जो एम० एल० ए० के चक्कर मे पड़ा वह बोर्जुआ प्रतिक्रियावादी हो जाएगा। कभी-कभी घबराहट में हम लोग भी सोचने लगते हैं कि जो एम० एल० ए० के चक्कर में पड़ा वो बोर्जुआ प्रतिक्रियावादी हो गया तो इसलिए राजनीतिक पहलू में कहीं भ्रष्ट करने वाला तत्व है।

अब वह इतना स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि अच्छा खासा आदमी टिकट के कारण पागल हो जाता है और पागलों की तरह व्यवहार करने लगता है। जिसको कल तक समझते थे कि यह सब बलिदान करने को तैयार है वह सब बलिदान एक तरफ रखकर के पचास झूठ बोलता है। पचास तमाशे करता है, सिर्फ एक हमको एक टिकट मिल जाये? यह तो अपने आप ही दिखाई पड़ता है कि कहाँ किस पागलपन में पड़ गये और ये फिर मन में वह घुमड़ होने लगती है कि सांस्कृतिक पहलू या सामाजिक पहलू से कभी दोनों का मेल खा ही नहीं सकता। इस आधार को मानकर के एक ओर तो भूदानवादी सिद्धान्त बना कि सर्वोदय के कार्यकर्ता को चुनाव के निकट नहीं जाना चाहिए। दूसरी तरफ वह नक्सलवादी सिद्धान्त बना कि नक्सलवादी कार्यकर्ता को चुनाव के निकट नही जाना चाहिए। लेकिन अगर हम जयप्रकाश और लोहिया के इस सिद्धान्त को मानें कि जेल भी है फावड़ा भी है मगर वोट नही है। तो सिद्धान्त हम चाहे जो बना लें इस समय की स्ट्रेटेजी जैसी बनाओ लेकिन वोट को यह कहना कि यह इन्क़लाब का हथियार नहीं है या तो यह भ्रष्ट करने वाला हथियार है या ये बोर्जुआ हथियार है दोनों का अर्थ भी वही है, एक की शब्दावली भ्रष्टाचार की है, एक की शब्दावली मार्क्सवादी है लेकिन मतलब वही है कि यह मोटा हो गया, यह हाथ से गया। इसकी तोंद फूल जायगी।

अगर दोनों तरफ से इसी नतीजे पर पहुँचते हैं तो शायद एक तरीका जो नक्सलवादी का है वह भूदानवादी से कही बेहतर है। क्योंकि वह कहता है कि तब उस हालत मे हम जहाँ से दमन का संघर्ष कर रहे हैं वहीं से धीरे-धीरे पटना पर भी कब्ज़ा कर लेंगे उसी हथियार से। जिस हथियार से दमन का विरोध शुरू किया है उसी हथियार को बढ़ाते-बढ़ाते गुरिल्ला लड़ाई (Warfare) से या हिंसा को अधिक संगठित करते-करते एक दिन हम पटना

सेक्रेटरियेट पर और शायद दिल्ली सेक्रेटरियेट पर कब्जा कर लेंगे। तब उस हालत में जो भीतर से (Long range) परिवर्तन वाले लोग निकले है बन्दूक हाथ में लिये हुए, वही अन्ततः राजनीतिक पहलू भी होगा। यानी इस प्रकार से राजनीतिक पहलू में और सांस्कृतिक और सामाजिक पहलू में कोई अंतर्विरोध नहीं उत्पन्न होता। ऐसा स्वप्न नक्सलवादी देखता है। और इस अंतर्विरोध (Contradiction) को हटाने का एक तरीका उसने अपने दिमाग में बनाया जिसके कारण मार्क्सवादी जो इन्क़लाबी है उनको सबसे सीधा सरल उपाय यह दिखता है और यह हल बार-बार घूम-घूम करके आता है इसके विपरीत जो इन्क़लाबी खासतौर से समाजवादी राजनीतिक पहलू में गए एम० एल० ए०, एम० पी० इत्यादि होने में गये उन्होंने यह नतीजा निकाला कि अन्ततः तो स्टेटस (Status) दर्जा इन्कलाब के पक्ष में मेरी आवाज की शक्ति सब तो इसी से निर्धारित होती है कि मैं स्वयं एम० एल० ए०, एम० पी हूँ या नहीं। और उससे भी एक कदम आगे कितने एम० पी० हमारी जेब में हैं। तब अगर मैं कहूँगा कि बम बांधों तो उसका कुछ मतलब होगा और न मेरे पास खुद एम० पी० होने की ताकत और न मेरी जेब में पाँच एम० पी० हैं तो मैं लाख चिल्लाया करूं कोई पूछने वाला तो है नही। तो वह सोचता है कि यह जो इन्क़लाबी काम है यह केवल वोट तैयार करने का एक तरीका है। यानी ऐसा समझ लो कि अगर कहीं आज चुनाव हो गया और अगला चुनाव पाँच वर्ष बाद होने वाला हो और आज चुनाव मान लो सन् ८१ में हो गया बिहार में और चुनाव के चार महीने के बाद मान लो दुर्भिक्ष पड़ गया कही बिहार में तो वहाँ का एम० एल० ए० जरा भी चिन्ता नही करेगा क्योंकि कहेगा अभी तो पाँच बरस है तब वोट खीचना होगा—अभी कुछ नहीं करा तो क्या हुआ। अगले समय में तो कर ही लेंगे। दो एक बरस बाद कुछ-न-कुछ। वह निश्चिन्त रहता है। अगर पचासी में चुनाव होना है और चौरासी में अकाल पड़ गया तब तो बिना कहे जो राजनैतिक एम० एल० ए० होने का उम्मीदवार है वह दौड़-दौड़ के भूख हड़ताल करेगा। अनशन करेगा। शोर मचायेगा। प्रदर्शन करेगा—अरे बाप रे बाप—जनता मरी जा रही है। यह सारा आन्दोलन अकाल के विरुद्ध इस दृष्टि से है कि तीन महीने बाद चुनाव होने वाला है। यह उसकी पद्धति बतलाई। दमन पुलिस का गोली चलाना जो हमारे लोकतंत्र के अन्दर विकृतियाँ हैं, शोषण हैं ये सारी चीजों के विरुद्ध सत्याग्रह जेल जाना यह सब समाजवादी कार्यकर्त्ता करता है। मगर इसकी गति धीमी और ऊँची इसी दृष्टि से होती

है कि अगला चुनाव कितनी दूर है और इसका अन्ततः परिणाम चुनाव पर क्या होगा।

इसका मेरा भी अनुभव है कि अक्सर ऐसा हो जाता है कि मान लो किसी जगह की पार्टी ने चाहे जनता पार्टी हो, लोकदल हो, कोई पार्टी हो उसने तय किया फलानी जगह बाढ़ आ गई है यहाँ आन्दोलन खड़ा करना है यहाँ के किसानों को लगान माफ़ी की जाय और इसी बीच में वहाँ चुनाव हो गया, बाई इलेक्शन (bye-election), तो मान लो दो महीना पहले स्टेट पार्टी फ़ैसला करेगी कि यहाँ सत्याग्रह होगा किसानों की माँगों को लेकर और अगर स्टेट गवर्नमेन्ट तय कर देती है कि नहीं छपरा में चुनाव होने जा रहा है तो छपरा की यूनिट यह डिमाण्ड (demand) करेगी कि चूंकि यहाँ चुनाव होने जा रहा है इसलिये यह सत्याग्रह स्थगित कर दिया जाये। एक नहीं इसके हजारों उदाहरण हैं।

यह सत्याग्रह यह आन्दोलन, जनता की माँगों को लेकर खड़ा हो जाना इनका केवल एक माध्यमिक उपयोग है और वह माध्यमिक उपयोग यह है कि अगले डिब्बे में यह हमारे लिए कितना सहायक है। ज्यादा पाजी एम० एल० ए० होगा कि जो सब भूल गया है। सामाजिक और सांस्कृतिक क्रान्तियों का उद्देश्य तो शायद वह यह भी कहेगा कि इस सबसे क्या होता है। बूथ-कैप्चर (booth Capture) कर कराके सब हिसाब बैठा दो यह नक्शा है। ऐसी दशा में एक (extreme) जैसे एक हल को निकाला दूसरा हल ये निकल सकता है कि इसलिए सामाजिक सांस्कृतिक इन्क़लाब की बात करने के लिए प्रोफेसर बी० डी० एन० साही जैसे लोग हैं जिनकी जरूरत तब पड़ती है जब समाजवादियों पर मुसीबत आती है। भ्रम उनको होता है—एम० एल० ए० उनके पास नहीं रह जाते हैं तब साही साहेब की याद होती है कि कुछ लोहिया की चर्चा कीजिए। कुछ ठीक-ठाक दिखाई पड़ने लगता है तब मंत्री साहेब कहते हैं फिर साही साहेब दरवाजे पर आ गये हैं। पता नहीं क्या-क्या समझायेंगे। यह अव्यावहारिक बातें तब याद आती हैं जब राजनीति ही अव्यावहारिक हो जाती है। जब राजनीति अव्यावहारिक हो जाती है तब मेरे जैसे क्या, अपने समय में तो लोहिया को भी अव्यावहारिक कहकर टालने वाले उनकी पार्टी के अन्दर थे। उन्हीं को उनकी जिन्दगी में उनके चेले कहने लगे थे कि अरे डाक्टर साहेब ये सब क्या हवा में बातें करते हैं। भला ऐसे कहीं वोट तय होता है? तो जब लोहिया के साथ ऐसा हुआ तो मैं तो बहुत ही छोटा आदमी हूँ उनके मुकाबले में। तो इन दोनों में या

तो राजनीति माध्यम है सांस्कृतिक और सामाजिक बड़े पैमाने के स्वप्नों का या ये सारे बड़े पैमाने के स्वप्न इनका माध्यम है। यह जो राजनीति है इसके बारे में दिमागी सफाई हर पार्टी को करना पड़ेगी।

अभी फिलहाल क्रान्तिकारियों की बात नही करता हूँ लेकिन विरोध पक्ष की जो पार्टियाँ हैं जिनको कभी-कभी क्रान्ति शब्द की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि क्रान्ति का मुलम्मा लगाने से कुछ वोट मिलने की सम्भावना है। उन विरोध पक्ष की पार्टियों से जरूर कहना चाहता हूँ कि यथास्थिति के मुकाबले में, इंदिरा गाँधी के मुकाबले में तुम हमेशा इस होड़ में हारोगे चाहे कितने ही चतुर अपने को समझो, हमेशा तुम हार जाओगे। हारोगे दो प्रकार से। समाज मे जो आज के बिना बदलाव वाले समाजवाद हैं इस सम्पूर्ण ठहराव जैसे सम्पूर्ण क्रांति आपने निकाला वैसे ही एक सम्पूर्ण ठहराव जैसा शब्द भी निकालना पड़ेगा क्योंकि यात्रा हमारी सम्पूर्ण ठहराव से सम्पूर्ण क्रान्ति तक बीच में एक—आध मंजिल अधूरी क्रांति की भी हो सकती है लेकिन सम्पूर्ण ठहराव अधूरी क्रान्ति सम्पूर्ण क्रान्ति जो भी मंजिल आप मानें लेकिन इस सम्पूर्ण ठहराव वाली राजनीति से सत्ता पर कब्जा करने के जो तरीके हैं उसके लिए इस देश में पहले ही से इंदिरा कांग्रेस बन गई। उस इंदिरा कांग्रेस ने बहुत अच्छे-अच्छे हथकंडे तैयार कर रखे हैं। घराऊ हुक्मी हथकंडे कि इस ठहराव की राजनीति से कैसे वोट प्राप्त किया जायें और कैसे सत्ता पर कब्जा किया जाये। इस होड़ में विरोध पक्ष कभी भी सफल नहीं हो सकता। या तो सीधा हार जायेगा, जैसे एक उदाहरण देता हूँ एक बहुत छोटी पार्टी है और अच्छा है कि ऐसी पार्टी का नाम हो जिसमें किसी को आप शायद जानते नही होंगे लिहाजा किसी के ऊपर व्यक्तिगत आक्षेप नही होगा। अभी मैं सवेरे गया तो देखा कि एक प्राउटिस्ट पार्टी है न उन्होंने एक समाज बनाया और वह मंदिर के ऊपर लिख रहा है मारवाड़ियों का शोषण बन्द करो—देखा होगा आप लोगों ने ? तो मैं बहुत चक्कर काटने-सोचने लगा दिमाग में कि यह प्राउटिस्ट पार्टी जिसके अन्य सिद्धान्त सब ठहराव वाले सिद्धान्त हैं इसको यह जरूरत क्यों पड़ी कि मारवाड़ियों का शोषण बन्द हो। बड़ा इन्क़लाबी इन्होंने नारा लगाया।

इसका कारण यह है कि ये जो इंदिरा गाँधी की ठहराव वाली राजनीति है और उससे कुछ अधिक कट्टर ठहराव की नीति जनसंघ और जनता पार्टी की और उससे भी अति कट्टर प्राउटिस्ट लोगों की यह सब ठहराव वाली पार्टी है इसमें जो अति कट्टर ठहराव वाली राजनैतिक पार्टी है

प्राउटिस्ट उसको मारवाड़ी सेठ पैसा नहीं देता यद्यपि उसका भी मारवाड़ी ठहराव वाली राजनीति पसन्द करता है यह पैसा देता है इंदिरा गांधी को और ये जो अति कट्टर ठहराववादी हैं उनकी इंदिरा ठहराववादियों से चूंकि एक प्रतिद्वन्द्विता पैदा होती है तो वह समझते हैं कि हमको —मारवाडियों को चाहिए कि हमें पैसा दिया करें—इसलिये ये सारी गालियाँ मारवाड़ियों को हैं। इन ठहराववादियों से मैं कहना चाहता हूँ कि हिन्दुस्तान जो ठहराववादी हिन्दुस्तान है वहाँ का मारवाड़ी तुमको कभी पैसा नहीं देगा। वहाँ का मारवाड़ी जनसंघ को भी कभी पैसा नहीं देगा। उतना ही देगा— थोडा-थोडा दिखाने भर को कि जिसके बोलने से इंदिरा गांधी कुछ ज्यादा प्रगतिशील दिखाई पड़ें। जिसको दिखा कि देखो ये इतना बड़ा प्रतिक्रियावादी है इसके मुकाबले मे देखो हम गतिशील हैं। यह बड़ा दकियानूस है। देखो हम modern आधुनिक हैं। ऐसी आवाज़ बनाये रखने के लिए कुछ थोडा ठहराववादी पैसा देता है। क्योंकि अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि ठहराववादी-हिन्दुस्तान का ठहराववादी राजनीतिज्ञ जो सामाजिक और सांस्कृतिक स्थितियों में प्रतिफलित होता है उसकी शर्तें क्या हैं।

तीस वर्षों में पंडित नेहरू ने क्या शर्तें बनाईं। इस ठहराववादी नीति की पहली शर्त है कि जबान से इन्कलाबी बातें करो लेकिन वस्तुतः उन इन्कलाबी बातों को ऐसा गोलमोल रखो कि कभी भी व्यवहार में वह आ न सकें। हिन्दुस्तान का ठहराववादी जानता है कि असली conservative बताने में अपने को हमारे पास कोई glory नही है क्योंकि असली कन्ज़र्वेटिव पार्टी उसी देश मे चल सकती है जिसके पास हजार दो हजार वर्ष का जगमगाता हुआ इतिहास हो कि जो सत्ता के प्रमुख अस्त्र ये इन लोगो ने हमारे देश के लिये ये ये किया।

अपने देश का हम जब पाँच सौ वर्ष का इतिहास देखते हैं तो जितने ये राजा, महाराजा, सामन्त, पंडित, महन्त एक-एक के पीछे अगर गिनें तो इनका एक ही रिकार्ड पूरी हिस्ट्री में है जो भी राजा आया उसके पीछे धोती खोल-कर आ गए बिना पूछे—और कहा इस देश को लूट लीजिए कुछ थोडा पैसा हमें भी दे दीजिए। एक मुकाबला कर सका ? क्या वे राजपूत मुकाबला कर सके जिन्होने आक्रमणकारियों को अपने बहनें दे दे करके इस देश मे से हिस्सा बटाया ? क्या वे ब्राह्मण मुकाबला कर सके ? क्या वे जमीन्दार मुकाबला कर सके ? जिनका एक ही कारण है हर जमीन्दार के पीछे अगर आप जायँ तो इनके बाबा ने परबाबा ने जब गदर हुआ तब अंग्रेजों की सहायता की इसलिए

उनको अंग्रेजों ने ये जमीन दी। एक-एक जमीन्दार चाहे वह राजा दरभंगा हों चाहे छोटे-मोटे जमीन्दार। पूछें तो पता लगे कि ये वहीं मिले। इसीलिए इन्होंने अपने देश के साथ गद्दारी करके उस समय अंग्रेजों का साथ दिया। ये देश के रक्षा करने वाले थे ? इनके आधार पर ठहरावबादी उस गौरव glory से खड़े हो सकते हैं जिस गौरव glory से थैचर (thatcher) खड़ी हो सकती है कि हमारे यहाँ इंग्लिस्तान में एक से एक conservative हुए जिन्होंने सत्रहवीं शताब्दी में अठारहवीं शताब्दी मे नैपोलियन को हरा दिया। इन्होंने उनको हराया; है कोई ऐसा माई का लाल यहाँ ? यहाँ के कन्ज़र्वेटिवों में से ? यहाँ के राजा-महाराजाओं में से ? यहाँ के सामन्तों में से ? है कोई जो मूँछों पर ताव देकर कह सके कि मैं जान की बाज़ी लगा करके इस देश के लिए या अपने ही परिवार की स्वाधीनता और स्वतंत्रता से लिए खड़ा हो सका हूँ और जान दे दी है ? नहीं है, शिवाजी का नाम लेते हैं ? अब हमसे न कहलवाइये यहाँ जनसंघियों से बहस नहीं करनी है वरना शिवाजी पर ही बहस हो जाये।

पहली बात तो शिवाजी का नाम हम क्यों लें ! क्योंकि शिवाजी जो भी रहे हों राजा होने के बाद उनका जो राजघराना था उसको तो वहाँ के ब्राह्मणों ने ही विनष्ट कर दिया। शिवाजी के बेटे शम्भाजी का जो चारित्रिक पतन हुआ उसके पीछे कौन जिम्मेदार है ? इस परिवार के प्रति मेरी श्रद्धा बनेगी ? जिसका एक हुआ मान लो बहादुर। तो दूसरा उसी अनुपात में, कुछ उससे ज्यादा अनुपात में कायर निकल गया। अगर मुझे कहना होगा तो कम-से-कम चार मुग़ल ही अच्छे लगते हैं। एक के बाद एक बहादुर, चाहे बाबर हुआ, चाहे उसका बेटा हुमायूं हुआ, चाहे उसका बेटा अकबर हुआ, चाहे उसका बेटा जहाँगीर यहाँ तो सब एक के बाद एक बहादुर दिखाई पड़ते हैं— वहाँ तो पता नहीं कहाँ से एक अपवाद स्वरूप आ गया उसके बाद मे शम्भाजी हुए शम्भाजी क्या थे वह तो बीजापुर के जागीरदार और शाहजी और उनके बाद उनके बेटे—कहाँ परम्परा बनी ? ट्रेडिशन (tradition) कहाँ बना ?

मैं पूछना चाहता हूँ।. किसी की हिम्मत नहीं किसी का यह सरोकार नहीं और जो बड़े-बड़े पेशवा हुए उनमें से एक दो के बारे में मेरे मन में गौरव जरूर होता है लेकिन उसमें भी एक-से-एक धूर्त और पाजी हैं। ऐसी नहीं है कि उन्होंने इस देश को बेचा नहीं। यहाँ अवसर इसका नहीं है अभी तो केवल सामन्तवाद-ठहरावबाद की व्याख्या कर रहा हूँ समाज और संस्कृति की फिर कभी अवसर आएगा तो उस पर भी चर्चा करूँगा। लेकिन मूलतः

मैं यह कहना चाहता हूँ कि हिन्दुस्तान का ठहरावादी खुले मन से अपने तत्कालीन पुरखों की गौरवगाथा नहीं गा सकता इसलिए हिन्दुस्तान का ठहरावादी हमेशा भविष्य के लिए स्वप्न दिखाने वाली भाषा बोलेगा। इसीलिए वह स्पर्श-क्रांतिकारी होता है। आवाज से और छूकर। छूने का तरीका यह है कि अगर जयप्रकाश नारायण क्रांतिकारी हो गये तो किसी एक समय मे जाकर उनका चरण छू लिया उनसे आशीर्वाद ले लिया बस अब हम भी क्रांतिकारी हो गए—उसके बाद किया चाहे जो। यह तो हुआ स्पर्श-क्रांतिकारी। ऐसे लोगों को मैं स्पर्श-क्रांतिकारी कहता हूँ। और आवाज-क्रांतिकारी होते है जैसे इंदिरा गांधी हैं। आवाज मे उन्होंने कहा मैं मरी जा रही हूँ हरिजनों के लिए, कमजोर सेक्शन के लिए और जाने क्यों क्या-क्या ? उसके बाद भी सब व्यवस्था ऐसे ही चलती है।

ठहराववाद का एक-दो सिद्धान्त इससे जरूर निकलता है—कहो बड़ी दूरगामी परिवर्तन की बात गहरे परिवर्तन की बात, करो कुछ नही। या व्यवहार आचरण में एक प्रकार और शब्दावली में दूसरे प्रकार। और यह किसी भी निरन्तर पराजित होती हुई क़ौम का लक्षण होता है जिसके पास कोई गौरवशाली परम्परा न हो। और इसका स्रोत अगर मैं और एक कदम आगे ले जाऊँ संस्कृति मे तो जैसा लोहिया ने कहा है कि इसका स्रोत हैं शंकराचार्य जी महाराज—आदि शंकराचार्य जिनके ऊपर आज का हिन्दू धर्म टिका हुआ है। क्योंकि आदि शंकराचार्यजी हैं जिन्होंने देश के धर्म की व्याख्या की। तो उन्होंने यह शौक पैदा की क्योकि शंकराचार्य के सामने प्रश्न यह था कि हिन्दू धर्म के पास कुछ नही रह गया है।

हजार वर्ष के अन्दर जितने-जितने (conservative) हिन्दू समाज के थे वे सब एक के बाद एक पतित होते गये उनमें कोई क्षमता आगे बढ़ने की नहीं थी उस समय शंकराचार्य के दिमाग में एक प्रश्न खड़ा हुआ कि अब हम हिन्दू धर्म की रक्षा किस प्रकार से करें—परम्परावादी धर्म की। तब उन्होंने रैडिकल सिद्धान्त बनाया कि अमीर और गरीब ही नहीं···क्या छिपकली और क्या ब्राह्मण क्या चांडाल और क्या ब्राह्मण सबमें कोई तात्विक अन्दर नही। एक ही ब्रह्म सब किसी मे समाया हुआ है। इससे बड़ा समाजवादी कोई दूसरा हुआ नहीं। जड़-चेतन, चांडाल-शूद्र और ब्राह्मण देवता और जिन्न सबमें एक ही ब्रह्म है और जितना ये अन्तर देखते हैं, यह सब अज्ञान के कारण है। यही तो कहा शंकराचार्य ने। मेरे अन्दर इतनी क्षमता होती तो मैं समग्रता कि यह भाषा बोलकर मैं इस देश का सबसे बड़ा इन्क़लाबी हो जाता। और

दूसरी तरफ उन्होंने कहा कि यह तो हुआ विचार-दर्शन, सिद्धान्त की व्याख्या। अब इसके आगे बताता हूँ कि जीवन में क्या करो जीवन में जो लोकाचरण बतलाता है, वही व्यवहार करना चाहिए। चांडाल चांडाल है, शूद्र शूद्र है, ब्राह्मण ब्राह्मण है। छुआ-छूत अपनी जगह है, सब व्यवहार वैसे ही करो जैसे लोकाचारण बतलाता है। सिद्धान्त में सब समान हैं, व्यवहार में एक दूसरे की गर्दन काटो।

शंकराचार्य ने मुक्त भाव से दोनों पर ठप्पा लगा दिया और हिन्दू दिमाग़ को यहाँ बीच से फाड़ दिया। आधा हो गया vadical और आधा हो गया कूड़ा। आधा हो गया इन्क़लाबी और आधा हो गया सख़्त से सख़्त दकियानूस। उसी का प्रतिफल है यह जो इंदिरा कांग्रेस का हर बार मेनिफ़ेस्टो निकलता है। आधा बोलता है वेदान्ती शंकराचार्य की भांति कि सब समान है। *आधा कहता है यह कूड़ा है। वही जनता पार्टी है—कैसा बढ़िया मेनिफ़ेस्टो* निकला था जनता पार्टी का। मैं तो फड़क गया। मैंने कहा कि शंकराचार्य के बाद यही मेनिफ़ेस्टो निकला है और उसका जो प्रधानमंत्री हुआ, उसने प्रधानमंत्री होने के बाद कहा—अरे! इस सबके आधार पर कहीं सरकार चलती है? अरे मेनिफ़ेस्टो अपनी जगह पर होता है, सरकार अपनी जगह पर होती है। तब हमने जाना कि फिर द्वितीय शंकराचार्य बोल रहा है। यह है देश का ठहराववादी दिमाग़। वह प्राउटिस्ट वाले नहीं हैं ठहराववादी, न ये जनसंघी हैं। ठहराववादी ये तो दिखाये जाते है, इसलिए ताकि दिखाया जा सके कि असली ठहराववादी की जबानी इन्क़लाब और वास्तविक ठहराववाद, कैसे ये दोनों ही एक साथ न्यायोचित ठहराये जा सकें। इसलिए जनसंघ की आवश्यकता पड़ती है। अब उस जनसंघ में अपने अंतर्विरोध हैं, क्योंकि वे जैसी राजनीति चलाते हैं जिसे बहुत दूर तक चला नही सकते। क्योंकि वे इस नतीजे पर पहुँचे कि हम कहेंगे कुछ, करेंगे कुछ। इस सिद्धान्त को नही मानते, लेकिन इस सिद्धान्त को वे नहीं मानेंगे। तब तो या तो सचमुच इन्क़लाबी हो जायेंगे, या फिर वे आज नही तो कल कांग्रेस के भीतर अंतर्मुक्त हो जायेंगे और न सिर्फ़ जनता पार्टी, बहुत से समाजवादी और तथाकथित समाजवादी आन्दोलन में जाने वाले लोग और बहुत अन्य पार्टियों के लोग दिल से यही चाहते हैं। जबानी करो इन्कलाबी बातें, व्यवहार मे कष्ट न करो। यह भी टकराववादी दूसरे प्रकार से हारते है और यदि जीत जाते हैं तो बाद में इंदिरा कांग्रेस में शामिल हो जाते हैं। इसलिए यह कहना चाहूँगा मैं विरोध पक्ष की पार्टियो से, कि ठहराववादी की जो पद्धति है, उसमें तुम कभी भी इंदिरा कांग्रेस को हरा नहीं सकोगे।

उसका तरीका जो बन चुका है इस देश के अन्दर, उस तरीक़े के अवसर या तो तुम्हारे तीस, चालीस, पचास, एम० पी०, एम० एल० ए० ऐसे ही छोटा-मोटा एक ग्रुप की भांति तुमको यह देश maintain करेगा, खिलौने की तरह, कभी मेरा घटा देगा, कभी थोड़ा बढ़ा देगा संख्या। लेकिन असली जो दिमागी फौक है जवानी, कुछ असली, कुछ इस दिमागी फौक का प्रतिनिधित्व एक ही पार्टी करती है तो उसमें शामिल बाजा की तरह बीच-बीच में बोलते होंगे कभी सम्वादी स्वर। उठाओगे कभी विवादी स्वर, उठाओगे। लेकिन उस बड़े राग के तुम हिस्से रहोगे। तो अब तुम इन्कलाबी क्या करोगे? मेरी समझ में अगर इन्कलाबी थोड़े से हैं तो उन्हें अपने कार्यक्रम को उसी ढंग से करना चाहिए, क्योंकि मेरी यह धारणा है कि यह आधा इधर, आधा उधर वाला ठहरावबाद—यह देश को अब बहुत दिनों तक नहीं चला सकता। लगता है, जैसे शंकराचार्य से आज तक चला, तो आगे क्यों नहीं चलेगा। आगे इसलिए नहीं चलेगा, क्योंकि इस ठहरावबाद की एक शर्त है—वह शर्त है कि समाज जिस तरह का भी बना हो, उस समाज में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं होने पाये। इस पर सबकी लगभग सहमति हो।

इसमें केवल असहमति उन लोगों की हो जो कि पूरे सामाजिक शोषण पद्धति के सबसे नीचे हैं—अगर केवल वही असहमत है, तब तो यह समाज चल सकता है क्योंकि जो सबसे नीचे शोषित होते हैं, उन्हें जाग्रत होने में बहुत वक़्त लगता है और हिन्दुस्तान जैसे देश में बहुत ज़्यादा वक़्त लगता है। लेकिन बाकी जितने हैं, वे सब लगभग संतुष्ट हैं। उदाहरण देता हूँ—मान लो, एक सामाजिक पद्धति हमने बनाई कि राज करने का काम ठाकुर करेगा और उसको सलाह देने का काम ब्राह्मण—यह पद्धति बनाई। अगर ब्राह्मण को झोपड़ी में रहने को कहा जाय और कहा जाय कि तुम शास्त्र पढ़ो यहाँ बैठकर और धर्म की व्याख्या करो, लेकिन राज-आज चलाने का प्रयास तुम न करो तो ठहरावबादी समाज में इसमें ब्राह्मण की यह वृत्ति मानी गई है कि उसमें ब्राह्मण को संतुष्ट नहीं होना चाहिए। जैसे मान लो हम ऐसे युग में रह रहे हैं जिसमें ब्राह्मण कहे कि सलाह तो मैं देना चाहता हूँ लेकिन महल में भी रहना चाहता हूँ। ऐसा कैसे हो सकता है कि ठाकुर साहेब का महल तो बहुत बड़ा हो और मैं झोपड़ी में रहूँ। यह नहीं।

जब मनुस्मृति में व्याख्या की गई समाज की, तो यह कहा गया न कि जो असली विचार वाला आदमी है, वह झोपड़ी में रहेगा और उस आदमी को कभी कोई तकलीफ़ नहीं होगी कि मैं झोपड़ी में क्यों रहता हूँ। इसी

पाटलिपुत्र में चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में मेगस्थनीज आया था। उस मेगस्थनीज ने भी कहा कि बहुत भारी महल था चन्द्रगुप्त का और उसी के पास उसके गुरु जिसने उसे राजा बनाया था, चाणक्य की भी कुटिया थी। यही तो लिखा है न मेगस्थनीज ने ? चन्द्रगुप्त के महल के अवशेष तो अब भी दिखाई पड़ जायेंगे। चाणक्य की कुटिया के अवशेष तो नही मिलेंगे। लेकिन चाणक्य को इस बात की कोई चिन्ता कभी नही हुई कि जितना बड़ा महल चन्द्रगुप्त का है, जब मैं इसको बनाने वाला हूँ, मामूली आदमी से लेकर इसको महाराज बना दिया, तो मेरा महल इससे कैसे छोटा हो ? यह चिन्ता कही चाणक्य को नही हुई।

लेकिन अब आपने शिवा जी का नाम लिया तो शिवाजी के साथ जो पुणे के ब्राह्मणो ने तय किया कि महाराज राजा तो आप रहेगे, लेकिन चाणक्य की भाँति पुणे के ब्राह्मण आपके सलाहकार रहेगे और वास्तविक सलाह उन्ही की चलेगी, तो हम समझ सकते हैं कि कितना यह चाणक्य की भाँति हुआ कि नीति पर तो कब्जा हुआ ब्राह्मणो का और एक्जीक्यूटिव पर तो कब्जा रहेगा, मान लो, राजा का। लेकिन पुणे के ब्राह्मणों ने एक बात जोड़ दी जो चाणक्य ने नहीं जोड़ी थी कि जितना बड़ा महल सतारा के राजा का है, उससे ज्यादा बड़ा शनिवार पैठ है। वह पेशवा नही रहता जरा-सी झोपड़ी में, जैसे चाणक्य रहता था। धीरे-धीरे सतारा का राजा हो गया छोटा और पेशवा हो गया बड़ा। तो कहाँ रह गई यह पद्धति और आज अगर तुम किसी ब्राह्मण से कहो कि सत्ता तुम्हारे हाथ में रहेगी, पॉलिसी तुम्हारी चलेगी, मगर रहो तुम झोपड़ी में, तो ब्राह्मण कहेगा कि पॉलिसी चाहे तेरी चले, तू रह झोपड़ी मे, मैं तो महल में रहूँगा। मैं बिना पॉलिसी के सन्तुष्ट हूं, मगर बँगला मेरा डबल हो। अब कोई मानने को तैयार नही है। उसके लिए ठाकुर में, ब्राह्मण में, राजपूत में, भूमिहार मे, कायस्थों मे खूब लड़ाई बिहार मे चल रही है। इनमे से कोई सन्तुष्ट नहीं है अपने स्थान से। वह सब दूरबीन लेकर देखते रहते हैं कि मेरे कैसे चार हुए, इसके कैसे चौदह हो गये, इसके तेरह कैसे हो गए। ये ही तोड़ेंगे—हरिजन नही तोड़ेंगे—इस समाज को ! हरिजन को शायद इस समाज को तोड़ने में बहुत वक्त लगे—तोड़ेंगे ये।

इसके बीच में भी एक और वर्ग खड़ा हो गया मध्यम जाति वाला अहीर, कुर्मी का, जिसको मनु-स्मृति में समझाया गया था कि तू इनसे थोड़ा नीचे रहना। तुमको खाने-पीने भर का सामान दे दिया जायेगा। हरिजनों से थोड़ा ऊपर रहोगे, लेकिन सत्ता इत्यादि के चक्कर में तुम न पड़ना। गृहस्थी का

सामान तुमको दिया जायेगा। अब अहीर कहता है—वाह ! हम भी बी० ए० पास होंगे, हम भी एम० ए० पास होंगे और ऐसे नहीं हो पाएँगे तो अपना वाइस-चांसलर बनायेंगे, अपनी यूनिवर्सिटी बनाएँगे, अपना प्रोफ़ेसर बनाएँगे। एम० ए० की डिग्री तो हमें भी चाहिए और वैसे ही बँगला चाहिए, वैसे ही अफ़सरी चाहिए, वैसे ही सब चाहिए जैसे ब्राह्मण को। अब यह समाज को बदलने वाला अहीर नहीं है। इन्क़लाब करने वाला नहीं है। लेकिन ठहराव वाले समाज में इतना बड़ा हिस्सा चाहता है कि पूरी नैया डुबो के ही रखेगा। यह हिस्सा कभी मनुस्मृति ने नहीं दिया उसको, लेकिन यह अहीर, यह कुर्मी, यह जो बीच की जाति वाला है, वह कहता है कि अगर औरों को मिल सकता है तो हमें भी मिल सकता है। थोड़ी देर में आया है, मगर माँग तो अपनी रखेगी ही। समाज में इन्क़लाबी क्या करेगा ! डाँटिएगा इसको कि यह क्या बदतमीज़ी कर रहे हो ? मैं तो कहूँगा कि एक ही नहीं, दो बँगला माँगो और माँगो, ज़रूर ऐसी माँग करो कि यह विजड़ित समाज तुझको देने में असमर्थ हो, तब तुझे खुद समझ में आएगा कि जब तक सबको नहीं बाँटेगा, तब तक मुझे भी नहीं मिलेगा। तभी वह इन्क़लाब के लिए हथियार बन सकता है, ऐसे नहीं बन सकता। अभी वह नहीं बन पाएगा। अभी तो जितना अहीर आया सोशलिस्ट पार्टी में लोहिया के साथ, इसी आशा में आया कि कांग्रेस में तो अहीरों का गुज़र नहीं। एक पार्टी यह अच्छी बन रही है, इसमें तो हमारे सब नेता हैं—चाहे वह अहीर हों, जाट हों, कुर्मी हों, चाहे जो हों। उसे अपने राजनीतिक अभिव्यक्ति का और अपनी सामाजिक महत्वाकांक्षाओं का माध्यम दिखाई पड़ा। उसकी अपनी जो जातिगत-सामाजिक महत्वाकांक्षाएँ हैं, उन सामाजिक महत्वाकांक्षाओं के भीतर ही वह अपनी राजनीति की तस्वीर बनाता है उस तसवीर में इन्क़लाब नहीं शामिल है, जाति तोड़ना नहीं शामिल है, केवल ऊँची जातियों के आसन पर एक पीढ़ा हमारा भी लग जाय—यही माँग है।

लेकिन अब वह जगह इतनी भर गई है कि फर्स्ट क्लास के डिब्बे में कितने आदमी घुसेंगे उसके अन्दर। ये दो-चार जातियाँ ऐसी बाद में आईं जिन्होंने कहा कि मैं तो सेकेन्ड क्लास का जबर्दस्ती बना दिया गया हूँ। मैं तो फर्स्ट क्लास का ही मुसाफिर हूँ। मेरे पास भी पास है जिसे वह लेकर बड़ा हुआ है। मैं भी इसी में चलूँगा जिसमें फर्स्ट क्लास के सब जा रहे हैं। फर्स्ट क्लास वाले जितने पहले से ठाकुर, ब्राह्मण सब खड़े हैं उधर कि इसको घुसने नहीं देंगे और वह कहता है—चाहे मेरे लिए डिब्बा दूसरा लगाओ,

मगर गाड़ी हम नहीं चलने देंगे जब तक फर्स्ट क्लास का नहीं बन जाता है। जब यह स्थिति है, तो वह यह नहीं कहता है कि फर्स्ट क्लास का डिब्बा abolish कर दो। यही कहता है कि एक हमारे लिए भी बना दो। बाकी चमार और हरिजन यह सब वही दूसरी दर्जे में यात्रा करते हैं। हमें कोई झगड़ा नहीं। अरे मैं तो ठाकुर हूँ, यदुवंशी हूँ, कृष्ण भगवान् का वंशज हूँ, जनेऊ भी पहनता हूँ। ब्राह्मण को बुलाकर अपनी बेटी की शादी भी करता हूँ। अब भी मैं फर्स्ट क्लास का अधिकारी नहीं हूँ तो कब होऊँगा।

वह जाति में अपने को क्षत्रिय मानता है। जाति में वह देर में, बहुत देर में आया। उसका एक भाई था राजपूत। वह आज से तीन सौ वर्ष पहले आ गया। वह चालाक था। यज्ञ के भीतर से निकल करके वह राजपूत जो है, क्षत्रिय हो गया, नहीं तो पहले राजपूत भी क्षत्रिय नहीं था, वह भी जाट ही की तरह का आदमी था। क्योंकि जैसा मैंने कहा था न कि तुलसीदास ने अपने एक कवित्त में लिखा है अपने बारे में। लिखते समय कहा है कि लोग मुझको कहते हैं—यह तुलसीदास कौन है, कोई कुछ सेंटता नहीं है इसको, तो उसी में कहा है। तुलसीदास कहते हैं कि—

धूत कहो अवधूत कहो रजपूत कहो जुलहा कहो कोऊ।
काहू के बेटे सों बेटी न ब्याहिबो देबो के एक न लेबरे के दोऊ॥

कोई मुझको धूत कहता है, कोई अवधूत कहता है, कोई राजपूत कहता है, कोई जुलाहा कहता है। जो जी में आये, कहो, मुझे अपनी बेटी किसी के बेटे से नहीं ब्याहना है। मुझे तो जो कहना है, वह मैं कहूँगा किसी भी हालत में। ये चार धूत, अवधूत, राजपूत और जुलाहा एक साथ गिनाया तुलसीदास ने, जैसे पतित होने के ये चारों लक्षण है।

अब तो राजपूत कोई अपने को रामचन्द्र के वंशज से नीचे का मानता ही नहीं है। बेचारे तुलसीदास तो राजपूतों को कहाँ मानते थे। वे सब लोग पहले दर्जे में सवार हो गये। कोई यार्ड (yard) ही ये जाकर बैठ गया तो कोई जब फ़र्स्ट क्लास का डिब्बा बन रहा था, वहीं से अपना रिजर्व करा लिया। जब गाड़ी पटना स्टेशन से छूटने-छूटने को हुई, तब तक अहीर दौड़ा हुआ आया—कहा मुझे भी बैठना है साहेब, घर जाना है। साहब कहता है—भाग जा यहाँ से। अब वह गोली चलाता है, मार करता है, हल्ला मचाता है, शोर मचाता है। कहा—हम आग लगा देंगे। कभी डकैती करता है, कभी कुछ, हमको इसके अन्दर वहीं घुसना है जहाँ राजपूत घुस गया है। बहुत पहले घुसा है। घुसूँगा क्या, समाज के फर्स्ट क्लास के डिब्बे में इतनी जगह है? जिस दिन

अहीर घुस जायगा सचमुच—जाट घुस जायगा, ग्वाला घुस जायगा, कुर्मी घुस जायगा, तो और लोग भी कहेंगे कि जब यह घुस सकता है, तो एक समय तो यह आयेगा ही कि लोग कहेंगे, यह फर्स्टक्लास, सेकेन्ड क्लास ही क्यों? सब दर्जा एक कर दो। तब किसी को जलन नहीं आ जायेगी कि ये फर्स्टक्लास में क्यों जा रहा है, यह सेकेन्ड क्लास में क्यों। यह आवाज कभी अहीर नहीं उठायेगा।

लेकिन इतिहास यह दिखाता है कि जिस राजनीतिक पहलू के द्वारा आज मध्यम जातियाँ खड़ी हुईं और इस बात का स्वप्न देख रही हैं कि शूद्रत्व के शिकंजे से जाति के मुखिये जैसे और जातियाँ शूद्र से उठकर द्विज हो गईं, वैसे ही आज भी कुछ शूद्र जातियाँ शूद्र से उठकर द्विज हो जायँ और यह प्रक्रिया चलती रहेगी। इस प्रक्रिया में जितनी दूर तक बढ़ा जा सकता था, अब उसमें जगह बहुत कम रह गई। इसी में जब कभी हमारे मित्र कहते हैं कि जाति कैसे टूटेगी, यह तो बढ़ती जा रही है तो हमने कहा—तो और क्या समझते हो कि ऐसे ही टूट जायगी? एक दिन सब लोग क्लब में प्रस्ताव पास कर देंगे और जाति टूट जायगी? जितना खून चूसकर, जितना डंडा मार के, जितना आतंक के बाद यह जातियाँ बनी हैं, आज जितने कम आतंक से टूटने की सम्भावना है, यह तो बहुत कम है। बलिदान में जो आप कर रहे हैं, कम है। राजपूत को राजपूत मनवाने के लिए कम खून बहा है? एक बनाफर जाति के आल्हा-ऊदल जिन्दगी भर लड़ते रह गये कि उनको ठाकुर मान लिया जाय। एक पृथ्वीराज और एक कन्नौज के राजा में इसी बात पर युद्ध हो गया कि तुमको मैं ठाकुर मानूं कैसे? लड़की गहरवार भला राठौर को देगा? जयचन्द और पृथ्वीराज का झगड़ा तो इसी बात पर था। उसे वह ठाकुर ही नहीं मानता था। कहाँ गहरवार और कहाँ राठौर। ये अपने को ठाकुर कहते हैं! फिर वह गया, उसकी लड़की संयोगिता को जबर्दस्ती उठा ले गया। फिर वह बड़ा बिगड़ा। तो उसने गोरी को न्योता दे दिया कि मुझसे नहीं पीटते बनता। इसको तू ही पीट दे।

जितना आतंक, जितना खून बहा है जातिवाद को स्थापित करने में, यह न समझना कि खाली जबानी जमा खर्च से प्रस्ताव पास करके जाति टूट जायेगी। इनके अन्दर बेशक जो लोग इन्कलाबी हैं, चाहे जिस जाति के हों, उनको अपने दिमाग के धैर्य और संतुलन को बनाये रखना पड़ेगा। घबराना नहीं, ये घबरा के तो नहीं कह सकते—बाबा यह जातिवाद बढ़ रहा है। अर रे, आज से मैं ब्राह्मणवादी हो गया। जिनका कलेजा कमजोर है, जो

चाहते हैं कि जातियाँ बिना मेहनत के टूट जाएँ बिना किसी संघर्ष के या बिना किसी टकराव के समाज बदल जायेगा, वे कृपा करके सम्पूर्ण तो क्या असम्पूर्ण क्रांति की भी बात करना छोड़ दें। वे केवल सुविधाजनक क्रांति की बात करें कि किसी को तकलीफ़ न हो। एक दिन अखबार में हम लोग देखेंगे कि कल रात हो गई जब हम लोग सो रहे थे। लेकिन जिनको यह समझ में आता है कि बड़े-बड़े जाले हैं और जिनको साफ करने में बड़ी-बड़ी टकराहटें होंगी। दिमाग व्यथित होगा, बड़े-बड़े अंतर्विरोध आयेंगे, उस समय दिमाग़ और आवाज़ को खुला रखना पड़ेगा। बिना डरे हुए बलिदान भी करना पड़ सकता है। ऐसे ही लोग सम्पूर्ण क्रांति की बात करें। यह कह देना बहुत आसान है कि हम संस्कृति बदल देना चाहते है, समाज को बदल देना चाहते हैं। ऐसा लगता है कि समाज को बदलना जो है, यह दर्जा चार का इम्तहान देने जैसा हो गया। समाज को बदलने में कितने पेंच खड़े होंगे, इसको जब तक आप समझेंगे नहीं; इसके लिए न समझें, दिमाग़ को स्थिर रखने के लिए जो हो रहा है, उसको समझते जाएँ।

दोपहर से हमारे मित्र प्रश्न उठा रहे हैं, पहले भी उन्होंने उठाये हैं कि नर-नारी समानता, यह कैसे ? इस इन्क़लाब के अन्दर सम्पूर्ण क्रांति के अन्दर यह कैसे पैदा होगी। इसका इस देश में क्या परिणाम है। और उन्होंने मुझसे कई मर्तबा कहा कि आज आप सांस्कृतिक पहलू पर बोल रहे हैं, इस पर जरूर बोलें और यहाँ पर आये तो सच्चिदाबाबू ने भी कहा कि इस पर जरूर बोलें। तो मुझको लगता है कि यह कुछ विशेष परिस्थिति यहाँ सामने की हैं, इस पर भी मैं कुछ चर्चा करूँ। इसके बारे में भी आप समझ लें, तब कहना और जब वे घटनाएँ सामने घटित होती रहती है, तब दिमाग के संतुलन को बनाये रखना यह दोनों दो तरह की बातें हैं। उदाहरण के लिए, राममनोहर लोहिया ने कहा है कि सीता और सावित्री के आदर्शों का वह आदर्श नारी के रूप में देखने का काम तो इस देश में बहुत हुआ, जरूरत है कि हम अपनी नारियों के आदर्श के रूप में द्रौपदी की भी स्थापना करें। तो सुना मैंने कि बहुत लोगों ने इसका यह अर्थ लगा दिया कि देखो कितना भ्रष्ट विचारक था यह लोहिया कि इसने एक ऐसी औरत चुनी हिन्दुस्तान से जिसके पाँच पति थे। सीता और सावित्री तो इसके लिए मशहूर हैं कि ये तो सतियों में भी श्रेष्ठ हैं। इसका मतलब यह हुआ कि जैसा तुलसीदास ने कहा है कि—"जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहिं नारी" वैसा ही यह लोहिया चाहता है कि सब उच्छृंखल हो जायें। उच्छृंखल का अर्थ यह है कि—मुक्ताचरणवादी, यौनव्यवहारवाली। नर-

नारी समानता का यही अर्थ है। अगर यह बात है तो जरूर इस पर हम थोड़ा दिमाग को ठंडा करके शास्त्रार्थ करें। पहला शास्त्रार्थ तो हम द्रौपदी और सीता को ही लेकर करें। क्यो लोहिया ने ऐसा कहा। जो वाल्मीकि की सीता है, उसको मैं फिलहाल छोड़े देता हूँ, क्योंकि वाल्मीकि की सीता को तो लगभग लोग भूल गये है—सीता तो यहाँ पर वही है जो तुलसीदास की सीता है। आपसे अगर मैं पूछूँ—मैं समझता हूँ, तुलसीदास की सीता से तो आप सब लोग परिचित हैं। तुलसीदास की सीता की जबान कहाँ-कहाँ खुली है, याद है आपको ? पूरे रामचरितमानस में सबसे चुप्पी औरत तुलसीदास की सीता है। ऐसा तो नही कहूँगा कि बिलकुल नही बोलती है, लेकिन लगता है इसके जबान ही नहीं है। कहीं-कहीं बोली है। एक तो जब रामचन्द्र बन जाने लगे, तब थोड़ा-सा बोली और वह भी उतना ही बोली जितना आजकल की महिलाएँ बोलती हैं। आप कही जाने लगिये तो कहेंगी मैं भी चलूँगी साथ-साथ। एक तो सीता की आदत यह है कि आप कहीं जा रहे हों तो मैं भी चलूँगी साथ-साथ। उसके बाद रामचन्द्र ने बहुत समझाया कि अरे तुम कहाँ जाओगी जंगल-बंगल में उसके बाद थोड़ा ही कहा उन्होने कि जहाँ पुरुष है, वहाँ स्त्री है। जैसे नदी बिना पानी के कोई अर्थ नहीं रखती, उसी तरह से बिना पुरुष के नारी भी कोई अर्थ नहीं रखती। बस जैसा आप करेंगे, वैसा मैं करूँगी। एक तो यह जबान खुली सीता की। दूसरी जबान सीता की तब खुली, जो मुझे याद आती है, जिसमें सबसे बड़ा अनर्थ किया उन्होंने, तो वह भी आधुनिक महिलाएँ सीता का और कुछ अनुकरण करती हों, न करती हों, यह जरूर करती हैं। एक उन्होने जानवर देखा और पति से कहा बस यह हमें चाहिए। यह गहना तो हम लेंगे ही। अब चाहे जो हो जाय—उसी ने सारा अनर्थ करवाया। तो दूसरी जबान तुलसीदास की सीता की यह खुली कि उसने हिरन देखा सोने का, तो बस अब हमको वही ले आइए—

'सत्यसंध प्रभु बध करि एही।
आनहु चरम कहति बैदेही॥

बड़ी जबान खोल कर कहा—बस यही चमड़ा चाहिए हमको सोने का। यह दूसरा मौका है।

उसी के तत्काल बाद तुलसीदास की सीता ने लक्ष्मण को कहा है। यद्यपि तुलसीदास ने वह भाषा कही नहीं, मुँह मे रखो है कि जब वह छद्म करके मरने लगा मारीच, तो पहले उसने जोर से लक्ष्मण चिल्लाया, फिर मन में राम। तो सीता जी ने सोचा राम पर कोई विपत्ति पड़ गई और लक्ष्मण

कहा कि जाओ देखो, तुम्हारे भाई को क्या हो गया है। लक्ष्मण ने उनको समझाया कि अरे रामचन्द्र प्रभु हैं, परात्पर हैं, स्वर्गलोक के भगवान् हैं, इनके ऊपर कौन-सी विपत्ति हो सकती है जो आप मुझको भेज रही हैं। धैर्य रखिए। अभी आते होंगे। तो तुलसीदास जी ने तो बस इतना कहा है कि—

'मरम बचन जब सीता बोला।
हरि प्रेरित लछिमन मन डोला।'

चुटीली बात कुछ कही। वाल्मीकि ने वह चुटीली बात को ज़रा खोल दी है। तुलसीदास छिपा गए उस चीज को। वाल्मीकि ने तो सीधा कह दिया कि सीता ने कहा कि मैं समझ गई—एक भाई ने तो राज्य ले लिया, दूसरा भाई बीवी हथियाने के चक्कर में है। ऐसा वाल्मीकि की सीता ने कहा। जब इतनी चुटीली बात कह दी सीता ने, तब लक्ष्मण बोले कि अब तो हमारी नीयत पर शक कर रही हैं, अब तो जाऊँगा ही। तब सीता को अकेली छोड़ कर लक्ष्मण गये। लेकिन वाल्मीकि तो ज्यादा खोलकर बोलता है—कलेजा उसका ज्यादा चौड़ा है—तुलसीदास की तरह घबराता नहीं है—बाबा तो बहुत घबराते हैं कि पता नहीं क्या कहलवा दें तो फिर समाज पर क्या असर पड़े। लेकिन दूसरी बार जरा-सा बोली जिसकी वजह से कुल का विनाश हुआ। फिर एक बार अशोकवाटिका में बोलीं। जब रावण ने आकर धमकाया, तब बहुत डाँटा-बाँटा और कहा कि मैं तुमको कुछ नहीं मानती हूँ। मेरे लिए तो प्रभु श्री रामचन्द्र है—उन्हें छोड़कर मैं किसी को नहीं मानती। यही कहा उन्होंने अशोक वाटिका में। यही चार-छह जगह है जहाँ सीता जी बोली है। अब उसके मुकाबले में द्रौपदी को देखो। जैसे-जैसे संकट राम पर पड़े और जैसे-जैसे राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक प्रश्न राम के सामने खड़े हुए, वे जो युधिष्ठिर के सामने खड़े हुए, जो अर्जुन के सामने खड़े हुए, उनसे कम संकट वाले प्रश्न नहीं थे। उनके पास भी उतने ही या उनसे कुल ज्यादा संकट वाले प्रश्न थे युधिष्ठिर और अर्जुन के सामने जिनकी बीवी द्रौपदी थी।

अब एक उदाहरण देता हूँ। जिस समय युधिष्ठिर ने अपने को हारा, अपना राज्य हारा, सब हार गये, तब अपनी बीवी द्रौपदी को दाँव पर लगाया और उसे भी हार गये। जब द्रौपदी को हार गये तब—अब ये लोहिया नहीं बोल रहे हैं, यह वेदव्यास बोल रहे हैं। तब दुर्योधन ने आदेश दिया कि अब द्रौपदी को युधिष्ठिर हार गये हैं, अब युधिष्ठिर के महल से

द्रौपदी को खींचकर ले आओ। ऐसा उन्होंने अपने सिपाहियों को आदेश दिया। महाभारत में कहा है कि एकवस्त्रा रजस्वला द्रौपदी उसी अर्द्धनग्न अवस्था मे राज्यसभा मे खडी हुई सीता की तरह नही बोलती वहाँ। न चुप ही है। पहला सवाल उसने आते ही यह किया कि यह मेरे पतिदेव बतायें कि क्या मैं उनकी सम्पत्ति हूँ कि उन्होंने मुझको दाँव पर लगा दिया? इनको मुझे दाँव पर लगाकर हारने का अधिकार क्या है? यह प्रश्न उन्होंने धृतराष्ट्र अपने ससुर से पूछा, भीष्म पितामह से पूछा, द्रोणाचार्य से पूछा, स्वयं धर्मराज युधिष्ठिर से पूछा कि आप धर्म की व्याख्या करते हैं— यह क्या किया आपने? आपको अधिकार कहाँ से प्राप्त हुआ। सब चुप! एक द्रौपदी के सवाल का जवाब न ससुर दे सके, न ददिया ससुर दे सके, न पाँच-पाँच पतिदेव एक भी दे सके। यही प्रश्न उसने कहा कि यह धर्म की व्याख्या कौन-सी है आपकी? द्रौपदी चुप रहने वाली औरत नही है। वह सवाल उठाती है! अब कौन अच्छी ज्यादा लगती है आदर्श आज के लिए—द्रौपदी या सीता? इसीलिए लोहिया ने कहा कि सीता को बहुत पूज चुके, कुछ द्रौपदी को भी याद करो। फिर द्रौपदी ने, जब कोई नही बोला, सब हार गये, तो उस सभा में एक ऐसे आदमी का नाम लिया जिससे उसका कोई रिश्ता नहीं था। जिससे उसकी केवल दोस्ती थी। वेदव्यास के अनुसार केवल मित्रभाव यानी उसका वह ब्वाय फ्रेन्ड था, उसका नाम था कृष्ण। कृष्ण को उसने याद किया। ये सब कायर और ढोंगी हैं। अब मेरी लाज की रक्षा तुम्ही कर सकते हो। तब कृष्ण ने आकर के उसकी रक्षा की। जब उसका चीरहरण होने लगा, तो उसका वस्त्र बढ़ाया। उस समय द्रौपदी ने कही नही कहा कि जब ससुर ने बेच दिया, जब पति ने बेच दिया, तब अब मेरे पास कौन-सा सहारा है जैसे चाहें, मुझको उधारा करें। उस समय तो उसने यही कहा कि एक तरफ से सब पति नपुंसक निकल गये, रिश्तेदार अपराधी निकल गये तो अब जो भी मेरा दोस्त है, उसी को बुलाती हूँ। यह द्रौपदी याद करने लायक है। आज की औरतों के सामने कितना आकर्षक आदर्श है। अगर लोहिया ने यह आदर्श रखा, तो क्या बुरा किया?

तीसरा उदाहरण दूँ। भीष्म पितामह, जो ददिया ससुर थे, धृतराष्ट्र के भी चाचा थे, वे महाभारत में जब मरने लगे तो महीनों शरशय्या पर पड़े रहे। युधिष्ठिर ने कहा अपने भाइयों से कि महाभारत अब समाप्त हो गया, चलो पितामह के पास चलकर धर्म और नीति का उपदेश लें। क्योंकि

महाभारत में छह महीने बाद तक भीष्म जिन्दा रहे, वह सूर्य के उत्तरायण होने की प्रतीक्षा कर रहे थे। तो समस्त पाण्डव जो कि विजेता थे, अपनी-अपनी रानियों के समेत भीष्म पितामह के पास गये जो शरशय्या पर पड़े थे और युधिष्ठिर ने उनसे कहा कि पितामह आप हमको बतायें—धर्म क्या है, नीति क्या है। तब शरशय्या पर लेटे हुए भीष्म पितामह ने धर्म और नीति की व्यवस्था युधिष्ठिर के सामने करना शुरू किया। थोड़ी-सी ही बातें उन्होंने कही थी धर्म और नीति के बारे में कि द्रौपदी जी खडी थी, वहाँ पर बड़ी जोर से ठठाकर हँस पडी। युधिष्ठिर ने कहा—यह क्या बदतमीजी है, बडे बुजुर्गों के सामने इस तरह हँस रही हो और वह भी जब वह उपदेश दे रहे हैं। तब द्रौपदी ने कहा—इस बूढे से पूछो, जब भरी सभा मे इसके आगे मैं नंगी की जा रही थी, तब इसका धर्म कहाँ चला गया था? तब यह क्यों चुप बैठा था? क्योंकि उस सभा में भीष्म भी उपस्थित थे। उनसे भी द्रौपदी ने कहा था कि जरा आप सोचिये—यह हो क्या रहा है। भीष्म को उत्तर नही सूझा, कोई जवाब नहीं सूझा। यह द्रौपदी जो ससुर के भी चुटकी काटती है—काफ़ी जोर से चुटकी काटती है और खोदकर हर प्रश्न पर, क्योंकि नीति और धर्म के ही प्रश्न भरे हुए है महाभारत में, कौन धर्म की बात कर रहा है, कौन अधर्म की बात यही तो विषय है। और उसमें हर कदम पर द्रौपदी एक अपना दृष्टिकोण रखती है।

भारतवर्ष के लिए जिस स्त्री को वेदव्यास ने आदर्श बना रखा है क्या वह छोटा आदर्श है? और जिसको तुलसीदास ने बना दिया, वही सब आदर्श है? दोनों महाकवि हैं—तुलसीदास भी, वेदव्यास भी। लेकिन हम कुछ तो अपना दिमाग लगायें। किसी को बड़ा-छोटा न कहें। लेकिन ऐसा नही है कि द्रौपदी के पीछे किसी मूर्ख का हाथ हो और सीता के पीछे किसी बहुत बड़े कवि का हाथ हो। वेदव्यास भी तो हमारे यहाँ के वास्तविक धर्म-शायस्ता हैं। लेकिन महाभारत में जितने तरह के प्रश्न उठाये गये हैं, जितने तरह के संशय उठाये गये है, उनके बाद एक ने भी नहीं उठाये हैं और ख़ैर, तुलसीदास ने तो नही ही उठाये हैं। तुलसीदास तो, क्षमा कीजिएगा, किसी तरह के संशय का उत्तर नहीं देते हैं। तुलसीदास तो उन लोगों में से हैं कि अगर मन मे संशय हुआ तो सिवाय दुर्गति कराने के और कोई दूसरा हल उनके पास नहीं है। एक ही प्रश्न पूछा था सती ने। अच्छा-ख़ासा सवाल था। सती ने पूछा था भगवान शंकर से। जब शंकर जा रहे थे और उन्होंने रामचन्द्र और लक्ष्मण को सीता के वियोग में घूमते हुए देखा और पुलकित

होकर हरि का नाम स्मरण किया और कहा—'जय-जय राम खरारि' तुम समस्त संसार के परमात्मा हो और ऐसा कहकर 'चले जात शिव सती समेता। पुनि-पुनि पुलकित कृपा निकेता ॥' अत्यन्त पुलकित शंकर अपने मन में राम का स्मरण करते हुए जाने लगे, तब सती को शंका हुई और सती ने शंकर से पूछा कि महाराज आप तो त्रिपुरारि हैं, आप तो त्रैलोक्य के भगवान् हैं अब आपको ऐसा कौन-सा भगवान् मिल गया जो अपनी औरत के पीछे घूम रहा है? यह कैसा भगवान् है, राम? मेरे मन में यह संशय हो गया है, आप इसका उत्तर दीजिए। ये कैसे भगवान् हैं? तो तुलसीदास ने कोई उत्तर नहीं दिलाया। अच्छा खासा संशय था वह प्रश्न मेरे मन में भी कभी-कभी उठता है—तो तुलसीदास ने क्या किया? कोई उत्तर नहीं दिलवाया शंकर से और केवल एक वार्ता कही—

"जो तुम्हरे मन अस संदेहू।
तो किन जाइ परीक्षा लेहू ॥"

जाओ, परीक्षा ले लो और फिर जब एक मर्तबा सती गईं तो इतनी बड़ी देवी होने के बाद वही जो सबसे मूर्खता का काम था, वह करवाया उनसे—शक्ल उनकी सीता की बनवाई। जब रामचन्द्र जी के सामने गईं। रामचन्द्र जी तत्काल भांप गए कि दूसरी औरत है जो शक्ल बदले घूम रही है। और जब रामचन्द्र ने उनसे कहा कि महारानी आप यहाँ कहाँ घूम रही हैं? शंकर भगवान् कहाँ हैं? तो बड़ी लज्जित हुईं कि अरे यह तो रामचन्द्र भांप गए। लगता है सचमुच भगवान् हैं। उसके बाद रामचन्द्र तो अलग हो गए। सती जब लौटकर के शंकर के पास आईं तो शंकर ने पूछा कि क्या हुआ? कुछ पता चला? तो दूसरी ग़लती करवाई सती से, ख़ामख़ाह झूठ बुलवाया तुलसी दास ने। सती ने कहा अरे मैं परीक्षा क्या लेती? जब वहाँ गई तो सोचा कि जब आप भगवान् कह रहे हैं तो होंगे ही भगवान्। तो बिना परीक्षा किये मैं लौट आई। तब शंकर ने अपने मन में सोचा और सब हाल जान लिया कि क्या-क्या पाखण्ड इस औरत ने किया है। तो शंकर ने तय किया—

"शम्भु विचार कीन्ह मन माही।
एहि तन सतिहि भेंट अब नाही ॥"

सज़ा दे दिया उसको। और फिर सती की जो दुर्गति हुई कि वह अपने मायके गईं, वहाँ किसी ने पूछा नहीं उसको। फिर अन्त में बेचारी अकेली सत्याग्रही की भाँति यज्ञकुण्ड में कूद कर मर गई। यह जो उसकी दुर्दशा

करवाई, लेकिन उसके संशय का वास्तविक उत्तर नहीं दिया। एक ही परिणाम उससे निकलता है कि जो शंका करेगा, वह मार खायेगा, उसकी दुर्दशा वैसी ही होगी, जैसी सती की हुई श्रोताओं में किसी ने कहा—तुलसीदास को उनकी बीवी ने निकाला था न। अब मैं यह कथा तो जानता नहीं, लेकिन जितनी कथा रामचरित मानस की है, अच्छा हो कि संस्कृति की बात करते समय हम केवल तुलसीदास तक ही अपने को सीमित न रखें। वेदव्यास को भी सामने रखें। महाभारत को भी ध्यान में रखें और जरा अपने देश के अन्दर संस्कृति को लेकर ही जो तरह-तरह के संकट खड़े हुए, तरह-तरह के घटनाक्रम आये, उनको ध्यान मे रखकर के तब अपनी दृष्टि आप बनायें और इसीलिए राममनोहर लोहिया ने सीता और सावित्री की अवमानना करने की बजाय बड़ा आदर्श द्रौपदी का ही माना।

उसी तरह एक दूसरा उदाहरण भी उन्होंने दिया है पद्मिनी का। पद्मिनी का भी धर्म से तो नहीं, लेकिन एक बड़ी उज्ज्वल सती स्त्री हुई है जिसने अपने पति के लिए जौहर किया और आग में कूदकर मर गई। क्योंकि अलाउद्दीन ने जब हमला किया और उसके पति को पकड़ ले गया और युद्ध हुआ तो पद्मिनी ने जौहर किया, उसका उदाहरण देते हुए एक जगह लोहिया ने कहा कि है और दूसरी एक और थी। उन्होंने एक अखबार की दुर्घटना से जिसमे एक एक तो यह पद्मिनी ऐसी योरोपीय औरत का जिक्र था जिसका पति हवाई जहाज चला रहा था। वह अपने पति के साथ हवाई जहाज पर जा रही थी। छोटा हवाई जहाज था। हवाई जहाज पर पति को सहसा हार्ट अटैक हुआ। वह औरत घबराने के बजाय धीरे से अपने पति को हटाकर खुद पाइलट की सीट पर बैठी और बैठ करके किसी प्रकार हवाई जहाज को नीचे उतारा और फिर अपने पति को अस्पताल ले गई। लोहिया ने कहा—ये दो स्त्रियां हैं। एक के पति पर संकट आया तो आग में कूद गई, दूसरे के पति पर संकट आया तो उसने पति के साथ अपने को भी बचाया। बुद्धि को जाने नहीं दिया हाथ से, और घबराई नहीं और कर्मक्षेत्र में तत्काल कूद गई। इन दोनो मे से ज्यादा महान् स्त्री कौन है। यह प्रश्न लोहिया ने पूछा। आज के दिमाग से इन दोनों में से ज्यादा महान् स्त्री वह पाइलट की स्त्री है जिसने ऐसा पराक्रम करके दिखाया।

इसी प्रकार तीसरा प्रश्न लोहिया ने उठाया कि हिन्दू समाज, स्त्री की एक ही कसौटी मानता है उसकी पवित्रता, वह उसके मन, उसके चिन्तन, उसके आचरण, उसके अपने व्यवहार को कसौटी नहीं मानता। वह कसौटी

मानता है जिसे लोहिया ने कहा है योनिशुचिता। अगर किसी बलात्कारी के कारण किसी स्त्री का शीलभंग कर दिया गया, तो यह समाज बलात्कारी से कम नाराज होता है, उस स्त्री से ज्यादा नाराज। इस सिद्धान्त के पीछे मनु महाराज का दिया हुआ योनिशुचिता का सिद्धान्त है 'यानी स्त्री जब तक उसका शीलभंग नहीं हुआ हो, तभी तक पवित्र है, उसके आगे पवित्र नहीं है। अब शीलभंग कई कारणों से हो सकता है, बलात्कार उनमें से प्रमुख एक कारण हो सकता है।

लोहिया ने एक प्रश्न उठाया कि क्या हिन्दू, क्या मुसलमान दोनों समाजों में यह विरोध है। आप सब जानते हैं कि जब बंगला देश पर पाकिस्तान की फौजों के वापस जाने की नौबत आई तो बंगलादेश के अन्दर उपस्थित पाकिस्तान की फौजों ने बड़े पैमाने पर बलात्कार किये। याद है न? और उस समय यह प्रश्न तब भी हम सबके दिमाग में घूमता रहा कि यह जो बलात्कार के द्वारा कलंकित स्त्रियाँ हैं, इनका समाज में अब क्या स्थान होगा नये बंगलादेश में? और हम जानते हैं कि बंगलादेश का समाज भी उनको पुनर्स्थापित करने में असमर्थ था। यह क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, दोनों में ऐसे समय आये है, ऐसे अवसर आये है जबकि स्त्रियों को इसी आधार पर अपमानित और लांछित करके न जाने किस-किस प्रकार के नारकीय जीवन को व्यतीत करने के लिए बाध्य किया गया। बल्कि शीलभंग का ही यह सिद्धान्त है जिसके अन्दर से यह भी निकलता है कि अपने ससुराल में स्त्री को चाहे जितनी भी यातना मिले, उसके लिए अन्यत्र कहीं भी ठौर नहीं है। वह जला भी दी जाती है दहेज के नाम पर, यातना भी उसको दी जाती है क्योंकि माना यह जाता है कि अब तो इसका शीलभंग हो ही चुका है। शादी इसकी हो ही चुकी। अब यह किसी कार्य की नहीं रही। कोई इसको दूसरा साथी भी नहीं मिलेगा। अकेले खड़े होने की बात तो छोड़ दो।

ये सारे सवाल डाक्टर लोहिया ने केन्द्रित करके प्रश्न को उठाया कि क्या औरत के लिए पवित्रता, महानता, उच्चता की यही एक मात्र कसौटी हिन्दू समाज में है या कोई और भी कसौटी है जिस कसौटी से हम पुरुष को आंका करते हैं। बेशक जिस पुरुष ने अपना चरित्र खो दिया है, जो दुराचारी हो गया है, उसके प्रति हमारी अच्छी धारणा नहीं बनती। लेकिन, दुराचारी के प्रति भी हम केवल उसके दुराचारी होने के कारण ही सब जजमेन्ट नहीं देते। अगर कोई व्यक्ति दुराचारी है, लेकिन विद्वान् है तो उसके दुराचार की चर्चा करते समय कुछ उसकी विद्वता की भी चर्चा करते हैं। लेकिन स्त्री अगर

विद्वान् है और दुराचारी भी है तो उसके केवल दुराचरण की ही चर्चा करेंगे, उसकी विद्वता की नही। क्या एक ही स्टैण्डर्ड से हम दोनों को नाप रहे हैं, एक ही नपने से नाप रहे हैं या दो नपने से ? इसलिए यदि चरित्र-विचार और बेशक चारित्रिक स्वच्छता या सबके ऊपर नियम है, तो दोनो के लिए समान हैं। जितना इसमें निन्दनीय है, उतना उसमे निन्दनीय है। यद्यपि दुर्भाग्य से समाज हमारा जिस प्रकार का है, उसमें पुरुष का बलात्कार असम्भव है, स्त्री ही का बलात्कार होता है। इसलिए बलात्कार में ऐसा तो अभी तक नही मिला जिसमें किसी पुरुष का बलात्कार किया हो किसी स्त्री ने, लेकिन अगर कर भी दिया हो तो वह तो मूँछों पर ताव देता हुआ चला जाएगा, उसे तब भी कोई लज्जा नही आयेगी और न यह प्रश्न खड़ा होगा कि वह पुरुष, बलात्कार से जिसका चरित्र नष्ट कर दिया गया, अब वह किसी योग्य नहीं रह गया।

यह सारे प्रश्न लोहिया ने उठाये और ये प्रश्न शील या योनिशुचिता के सिद्धान्त को केन्द्र में रखकर उन्होने पूछा है और कहा है कि यह जो सिद्धान्त है, इस सिद्धान्त में जितनी असमानता की गुंजाइश आज तक रही है, उससे इस सिद्धान्त को अस्वीकार करने के बहुत ही अवसर हैं। लोहिया के सामने ये प्रश्न खड़े हुए थे और पहली तलाश उन्होने हमारी प्राचीन संस्कृति में की तो उन्होंने यह पाया कि मनुस्मृति में जो इस प्रकार की कट्टर व्यवस्थाएँ हैं, मनुस्मृति के पूर्व इस प्रकार की कट्टर व्यवस्थाएँ नही थी। अन्य पुराणो में— महाभारत में इतनी कट्टर व्यवस्थाएँ नही हैं और मैं एक उदाहरण देता हूँ और वह उदाहरण हम सबके भीतर लागू होता है, क्योंकि हम सब उसी एक अम्मा—दादा की सन्तान हैं और वह हैं दुष्यंत और शकुन्तला। उन्हीं के बेटे थे भरत और उन्ही के नाम पर यह भारतवर्ष है और उन्ही के नाम पर हम सब भारतवासी। तो हमारे असली अम्मा-दादा तो वही हैं। तो दुष्यन्त-शकुन्तला की आपस की शादी कैसे हुई थी ? वह तो उन्होंने उनको देखा, उन्होंने उनको देखा और कहा कि आज से मियाँ-बीबी हो गये। न कोई ब्राह्मण बुलाया, न कोई यज्ञकुण्ड स्थापित किया, न अग्नि जलाई। हो गये मियाँ-बीबी और उसकी संतान—वही हमारा दादा है जिसको कहते हुए जरा भी हम लोगों को शर्म नही आती कि यह तो बडा ही गड़बड़ किस्म का लड़का था, नाजायज लड़का था। उस भरत को तो हम अपना परम चक्रवर्ती पितामह मानते हैं। यह भी उन्होने लिखा कि एक समय दिमाग इस तरह भी सोच सकता था। उन्होंने यह भी देखा कि मेनका और विश्वामित्र दोनो की जो संतान थी शकुन्तला, उन दोनों के ऊपर भी कोई कलंक नहीं आया, इस कारण

कि ऐसे ही चलते हुए एक लड़की इन लोगों ने पैदा कर दी। ऐसे अनेक उदाहरण और बाद मे चलकर अवश्य इस तरह के सवाल उठे जिससे हिन्दू समाज में अधिक कट्टर होते गए।

आज अगर मैं तुलसीदास की जगह राम की कथा लिखने बैठूं तो निश्चय ही मैं सवाल पूछूंगा कि अहिल्या का कौन दोप' था? उसका तो एक तरह से बलात्कार ही हुआ था, बल्कि उससे भी ज्यादा खराब धोखा दिया था। अहिल्या की यही तो कथा थी कि वह गरीब गौतम की पत्नी थी और इन्द्र ने गौतम का रूप धारण करके अहिल्या को छला और सजा किसको मिली। अहिल्या को तो वह सजा मिली कि वह हो गई पत्थर और इन्द्र को एक सजा मिली जिसके अनुसार पहले वह जो था उसको बाद में बदलकर एक हजार आँखों की शक्ल बन गई उसकी। इन्द्र को सजा मिली थी—तुम इतने कामी हो, तो तुम्हारे समस्त शरीर पर एक हजार योनियाँ बन जायें। बाद में वह योनियों वाला जो शाप था, बदल दिया गया। कहा गया कि तुम्हारे शरीर में जहाँ-जहाँ योनियाँ बन गई हैं, वहाँ-वहाँ आँखें बन जायें, तो सहस्राक्ष हो गये। तो उसके लिए तो फायदा ही हुआ। और अहिल्या हो गई पापिनी जिसे जब रामचन्द्र जी के पैरों की धूली लगी, उनके पैरों की धूल जिन महाराज ने सीतादेवी को निकाल दिया था बिना किसी अपराध के उनकी धूल जब लगी, तब अहिल्या जाकर अपने अपराध से मुक्त हुई। यह कोई किस्सा है ' लेकिन इसके पहले भी हमारे इतिहास-पुराण में ऐसे किस्से हैं जिनमें इस तरह की संकुचित दृष्टि नही है। लोहिया की तलाश उन आदर्शों और उन प्रश्नो को लेकर थी। उसके पीछे सूत्र मूलतः यही था कि हम स्त्री और पुरुष को एक समानता में मान लें। एक प्रश्न यह जरूर उठाया गया कि क्या फिर समाजवादी परिवार मात्र को या विवाह पद्धति भाग को शोपण का साधन मानें? स्त्री-पुरुष का विवाह होता है, वहीं स्त्री का शोपण शुरू हो जाता है। कहने को ये बातें अच्छी लगती हैं कि परिवार ही शोपण का आधार है। यह नही कि आज का परिवार शोपण को बढ़ावा देता है, बल्कि परिवार मात्र चाहे जिस समाज में होगा, यदि पारिवारिकता होगी, स्त्री-पुरुष मे विवाह-सम्बन्ध होगा तो सिवाय शोपक-शोपित के कोई दूसरा सम्बन्ध नहीं बनेगा। कोई भी समाजवादी और समाजशास्त्री इतना तो मान लेगा कि आज के समाज, आज के परिवार, स्त्री-पुरुष के बीच मे बड़ी असमानताएँ हैं और शोपण के बहुत से आधार हैं। उन आधारों को दूर करना एक बात है, लेकिन यह कहना कि परिवार मात्र ही, विवाह-पद्धति मात्र ही इस संकट को बड़ा

कर देती है, ऐसा कोई समाजवादी नहीं कहता। शायद सबसे अधिक इस सम्बन्ध में उग्र विचार एक महिला लेखिका सिमान दी बोवा के हैं। वे फ्रांस की एक अस्तित्ववादी विचारक हुई हैं और बोवा की पुस्तक है—'दी सेकेंड सेक्स' और स्त्रियों की समानता-असमानता पर है। बहुत ही महत्त्वपूर्ण पुस्तक है जिसमें स्त्रियों को समाज में और धर्म में और दुनिया में देखा है। बहुत विद्वतापूर्ण पुस्तक है। उसमे जरूर सिमान दी बोवा ने प्रश्न उठाया है कि लगता है कि विवाह-पद्धति मात्र स्त्री के शोषण का आधार है। इसलिए विवाह-पद्धति मात्र का कोई-न-कोई विकल्प निकलना चाहिए। मैंने इस पुस्तक को पढा तभी जब डॉक्टर लोहिया ने मुझसे कहा कि इस किताब को तुम पढ़ डालो—तभी मैंने खोजकर यह किताब पढ़ी। नयी-नयी निकली थी १९५३-५४ के आसपास और उन्होंने भी यह किताब पढ़ी थी और उन्होंने कहा था कि सिमान दी बोवा ने जो प्रश्न उठाये हैं, वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं और इसका उत्तर समाजवादियों को देना है।

किन्तु सिमान दी बोवा के संशय तक तो लोहिया सहमत है, उसके उत्तरों से सहमत नहीं हैं। बल्कि जब एक मर्तबा फ्रांस गये तो सिमान दी बोवा से मिले और कुछ बहस भी हुई। लेकिन यह अवश्य उन्होंने कहा कि अधिकांश विवाह-पद्धति आज तक एक ऐसे समाज में होती रही है जिसमें इस विवाह-पद्धति के चलते शोषण की बुनियाद डाल दी जाती है। लेकिन जैसा मैंने कहा, उदाहरण के लिए लें, लेनिन के सामने यह प्रश्न जब आया, तो उस समय जो इन्क़लाबी रूसी जो थे, जब लेनिन ने पहला इन्क़लाब चलाया तो उन्होंने एक थ्योरी चलाई, उस समय एक सिद्धान्त उन्होंने दिया कि सेक्स की भोग की भूख ठीक उसी प्रकार से है, जैसे प्यास लगने पर एक गिलास पानी पी ले और जिस प्रकार आपने गिलास से पानी पिया और फिर गिलास फेंक दिया, फिर उसकी ओर लौटकर देखने की जरूरत नहीं है, उसी प्रकार सेक्स को ट्रीट करना चाहिये। लेनिन ने बहुत फटकारा था उनको उस समय। जो युवा इन्क़लाबी थे, उनको बहुत फटकारा था और कहा था कि यह एनार्किज्म है, उच्छृंखलता है, यह समाज के निर्माण की पद्धति नहीं है।

अधिकांश में लोहिया के विचार लगभग लेनिन के ही तरह थे। एक उदाहरण और है जिसे बहुत हँसी में, लेकिन कभी-कभी गम्भीरतापूर्वक वे कहा करते थे कि इस देश का वास्तविक नेता, अपने देश के बारे में किसी नाराजगी से नहीं या देश को पिछड़ा मानकर के नहीं, समाज की ही दृष्टि से

कहते थे कि मेरे जैसा कुंआरा आदमी तो कभी हो नहीं सकता। इसके लिए नेता तो गृहस्थ होना चाहिए, जयप्रकाश नारायण की तरह। ऐसा वे बार-बार कहते थे। तो इसका अर्थ यह है कि परिवार बनाने का जो एक प्रतीक होना चाहिए, यह उनको जयप्रकाश में अधिक दिखता था और अपनी तो उन्होंने शादी-वादी की नहीं। तो यह बात उन्होने सिद्धान्ततः कही, केवल विनोद मे नही और कई जगह कहा है। इसलिए यदि कोई यह समझता है कि समाजवाद या स्त्री-पुरुष के बीच की जो सांस्कृतिक क्रांति है, कम-से-कम लोहिया की सात क्रांतियों में से नर-नारी समता की, उसमें विवाह-पद्धति का उन्मूलन निहित है तो मैं समझता हूँ कि ग़लत है।

यह सही है कि लोहिया ने यह भी कहा है कि स्त्रियों को पिछड़े हुए आरक्षण का अधिकार मिलना चाहिए और यह कहते समय लोहिया ने केवल यह नही कहा कि आज की स्त्रियाँ पिछड़ी हैं, इसलिए आरक्षण का अधिकार होना चाहिए। वह तो उन्होंने कहा ही, यह भी कहा कि भौतिक कारणों से भी स्त्रियाँ पुरुषों से कमज़ोर पड़ती हैं, इसलिए स्त्रियों को विशेष अवसर हमेशा देना चाहिए। इसको जरा आप ध्यान में रखिये। जहाँ तक सिर्फ़ सांस्कृतिक कारणों से स्त्रियाँ पिछड़ गई है, इसी की चर्चा नही है, बल्कि भौतिक कारणो से स्त्रियो में कुछ कमियाँ पैदा होती हैं, जैसे मान लो जिस वक्त औरत को बच्चा पैदा करते समय या बच्चा होने के समय कुछ दिनों के लिए बहुत से काम उसको छोड देने पड़ते हैं जब उसके पेट में बच्चा होता है, या महीने में कुछ दिन अवश्य ही हर स्त्री के ऐसे गुज़रते हैं जब बहुत से कारणों से वह चाहे भी तो नही शामिल हो सकती है। यह सीमा पुरुष की नहीं होती। वास्तविकता यह है कि इस तरह की बहुत-सी भौतिक सीमाओं का प्रश्न सिमन दी बोवा ने अपनी पुस्तक मे उठाया है और इस बात की तलाश की कोशिश की है कि इन भौतिक सीमाओं का अतिक्रमण समाज के निर्माण की किस पद्धति से स्त्री-पुरुष की समानता के अनुरूप किया जा सकता है। ये उठाये गये प्रश्न सिमान दी बोवा के और इनका उत्तर लोहिया ने अपने सिद्धान्त में यह कहकर निकाला कि कुछ भौतिक कारणो से ही स्त्रियों के लिए ये कमज़ोरियाँ हैं, शारीरिक कमज़ोरियाँ हैं, अन्य प्रकार की क्षमताओं की कमज़ोरियाँ हैं, तब उस हालत मे निश्चय ही स्त्रियों को विशेष रूप से अवसर दें। उदाहरण डाक्टर लोहिया का आपके सामने उनके दृष्टि-कोण में है। विशेष अवसर आप चाहें तो कहें कि अगर मैं पुरुष होकर डाक्टर लोहिया से कहता कि जब तक हजामत अच्छी तरह से बढ़िया ब्लेड

से न बने और फिर उसके बाद जब तक बढ़िया मक्खन न रगड़ लिया जाये, तब तक मैं इस लायक नहीं हूँ कि आपके साथ कहीं चल सकूँ। ऐसे नेताओं का; जो खूब अच्छी तरह चिकने होकर निकला करते थे, लोहिया अक्सर मज़ाक बनाते थे। और आप जानते हैं कि लोहिया ने खुद तो शायद ही कभी कंघी इस्तेमाल की हो। यानी प्रसाधन के मामले में पुरुषों का किसी भी प्रकार का प्रसाधन का इस्तेमाल करना लोहिया को एक तरह की अनावश्यक ऐयाशी लगता था और इसकी यह चुटकी लिया करते थे अक्सर। इसका मतलब कि बहुत गहरा मसला हो, लेकिन चुटकी जरूर लेंगे। इसके विपरीत लोहिया से एक बार इस पर बहस की मैंने बहुत जबर्दस्त। उन्होंने कहा कि यह क्रीम और पाउडर, यह जो चीजें हैं औरतों में, यह दुनिया की बहुत बड़ी इन्क़लाबी चीज़ है। तो ऐसा उन्होंने लिखा भी। उन्होंने कहा कि इससे कितना इन्क़लाबी अन्तर पड़ जाता है अगर देखना हो तो कभी आप योरप या अमेरिका या अन्य किसी देश की सड़कों पर चले जाइये, यह प्रसाधन-सामग्री का चमत्कार है कि महारानी और मेहतरानी में कोई अन्तर नहीं है। वही पांड्स क्रीम मेहतरानी भी लगा रही है, वही पांड्स क्रीम महारानी भी लगा रही हैं और दोनों जब सड़क पर निकलती हैं, तो कोई फर्क नहीं दिखाई पड़ता। हिन्दुस्तान में तो दिखता है, क्योंकि मेहतरानी को तो ख़ैर मयस्सर ही नहीं होगा और फिर शायद कायदे का कंघा भी नहीं होगा। लेकिन लोहिया ने इस पर विवेचन इसी प्रकार किया। मैंने एक बार उनसे कहा कि यह आप कैसे कह सकते हैं कि ये जो क्रीम और पाउडर हैं, ये औरतें इस्तेमाल करें, तब तो इन्क़लाबी हो गई और मैं इस्तेमाल करूँ, तो यह प्रतिक्रियावादी हो गया। यह तो आप बड़ा गड़बड़ कर रहे हैं। ये कैसे चलेगा?

□□

लोकतांत्रिक समाजवाद में साहित्य की भूमिका

डॉ० राममनोहर लोहिया के शब्दों में समाजवाद अधिक-से-अधिक और कम-से-कम आमदनी के बीच की खाई को एक पूर्वनिश्चित क्रम के अनुसार, लगातार कम करके, किसी समय या किसी काल में अधिक बराबरी हासिल करने का विचार-दर्शन है। आय की संगत और संभव समता के लिए प्राचीन काल से ही विचार और प्रयोग होते रहे। कहते हैं कि सम्राट् नु-मि-तिङ् ने अपने राजकोष की समस्त धनराशि को प्रजाओं में बराबर-बराबर बँटवाया था, किन्तु उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब प्रजाओं में बाँटी गयी धनराशि, थोड़े ही समय बाद, राजकोष में वापस लौट आयी। समता की व्यवस्था प्रवर्तित करने के निमित्त कृतनिश्चय होकर जब सम्राट् राजव्यवस्था के उस रहस्य का पता लगाने के लिए निकला जिसके कारण गरीबों के पास से सिमट-सिमट कर धनियों के पास धनराशि स्वयमेव चली आया करती है, तो उसे मार डाला गया। सम्राट् नु-मि-तिङ् को महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने विश्व का पहला समाजवादी कहा है। किन्तु, यह कहना कठिन है कि दान के द्वारा अपने राजकोष को प्रतिवर्ष रिक्त कर देनेवाले भारतीय सम्राट् रघु की कथा नु-मि-तिङ् की उक्त कथा से कम प्राचीन है।

आधुनिक युग में रार्बट ओवेन का प्रयोग भी लगभग ऐसा ही था। ओवेन अपनी पूँजी लगाकर एक ऐसा औद्योगिक द्वीप बसाना चाहता था जिसमें शक्ति के अनुसार श्रम करने और आवश्यकता के अनुसार सामान प्राप्त करने की सुविधा पर आधारित समता की व्यवस्था जारी की जा सकती। ओवेन की इस सदिच्छा के परिणाम को प्रयोगशाला-समाजवाद कहकर विचारकों ने गलती नहीं की। ढाई दशाब्द पहले इस प्रकार के सत्प्रयासों की चर्चा करते-करते श्री जयप्रकाश नारायण ने लिखा था कि प्रयोगशाला में शीशे पर सात रंगों की किरणें उतारना और बात है, इन्द्रधनुष उगाना और बात। श्री जयप्रकाश नारायण को उस समय उनके अनुयायी भारत का लेनिन कहते थे। पर यह तथ्य आगे चलकर श्री जयप्रकाश नारायण ने नहीं, डॉ० लोहिया ने स्पष्ट किया कि यूरोप का समाजवाद, वह स्वप्नवादी हो या वैज्ञानिक, पैमाने के

बड़े होने के कारण और भी खतरनाक ढंग का प्रयोगशाला-समाजवाद ही है क्योंकि उसके पीछे शेष जगत् के शोषण और अपमान के आधार पर यूरोप को चमकदार बनाने की योजनाबद्ध ऐतिहासिक घटनाएँ और विचार-दर्शन हैं।

समता को प्रचार द्वारा लोकप्रिय बनाकर जनमत के आधार पर बनी सरकारों के द्वारा समाजवाद क़ायम करने की कल्पना यूरोप के सामाजिक लोकतंत्रियों ने भी की थी। पर, वे अपनी ओर करतूत से इतने बदनाम हो चुके थे कि मार्क्स और एंगेल्स ने जब यूरोपीय सर्वहारा वर्ग की 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' की रचना की, तो उसकी भूमिका में उन्होंने ऐसा स्पष्ट कर दिया कि वे अपने ग्रन्थ का नाम सोश्यलिस्ट मेनिफेस्टो भी रख सकते थे। पर, ऐसा उन्होंने नहीं किया, क्योंकि सामाजिक लोकतंत्रियों के चलते यूरोप में समाजवाद बदनाम हो चुका था। यह दूसरी बात है कि इन कम्युनिस्ट नेताओं ने भी अपने विचार-दर्शन को वैज्ञानिक समाजवाद कहने में किसी संकोच का अनुभव नहीं किया। फिर भी इस संप्रदाय के विचारकों ने समाजवाद के प्रति एक प्रकार की हीन धारणा बनाये रखी और यह उसी का परिणाम है कि ट्राट्स्की ने समाजवाद को साम्यवाद के पहले की व्यवस्थापरक अन्तर्दशा के रूप में व्याख्येय बताया। लोकतांत्रिक समाजवाद को बराबर यूरोपीय सामाजिक लोकतंत्रियों की तफ़सील में समझते रहे और 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' के सम्बन्ध में अपनी टिप्पणी देते समय ट्राट्स्की ने लिखा है कि जनमत के नाम पर बनी यूरोप की ये समाजवादी सरकारें वस्तुतः शोषक वर्ग की कार्य-समितियाँ हैं और यदि उस वर्ग की स्वार्थरक्षा में उनसे थोड़ी भी चूक होती है, तो उन्हें जूते मार कर बर्खास्त कर दिया जाता है। ऐसे ढुलमुल समाजवाद के मुक़ाबले में साम्यवाद द्वारा अपने को वैज्ञानिक समाजवाद कहना उचित ही था।

लोकतंत्र का नाम लेने वाले समाजवादियों से कुपित रहने के बावजूद मार्क्सवादी विचारकों ने समाजवाद और लोकतंत्र के सम्बन्ध के प्रसंग में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। लोकतंत्र को स्पष्ट गर्हित करते उन्हें प्रायः संकोच होता रहा है, वे जब लोकतंत्र की निन्दा करते हैं, तो प्रायः इसलिए कि लोकतंत्र के नाम पर शोषण को नकली राजनीतिक न्याय और समता में छिपने की मांद मिल जाया करती है। ट्राट्स्की जैसे मार्क्सवादी विचारक तो स्पष्टतः ऐसा मानते रहे हैं कि लोकतंत्र समाजवाद में ही चरितार्थ हो सकता है। पर, लोकतंत्र की पूर्ण चरितार्थता के लिए, उनके अनुसार यह आवश्यक है कि

लोकतांत्रिक समाजवाद में साहित्य की भूमिका

डॉ० राममनोहर लोहिया के शब्दों में समाजवाद अधिक-से-अधिक और कम-से-कम आमदनी के बीच की खाईं को एक पूर्वनिश्चित क्रम के अनुसार, लगातार कम करके, किसी समय या किसी काल में अधिक बराबरी हासिल करने का विचार-दर्शन है। आय की संगत और संभव समता के लिए प्राचीन काल से ही विचार और प्रयोग होते रहे। कहते हैं कि सम्राट् नु-मि-तिङ् ने अपने राजकोष की समस्त धनराशि को प्रजाओं में बराबर-बराबर बँटवाया था, किन्तु उसके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा जब प्रजाओं मे बाँटी गयी धनराशि, थोड़े ही समय बाद, राजकोष में वापस लौट आयी। समता की व्यवस्था प्रवर्तित करने के निमित्त कृतनिश्चय होकर जब सम्राट् राजव्यवस्था के उस रहस्य का पता लगाने के लिए निकला जिसके कारण गरीबों के पास से सिमट-सिमट कर धनियों के पास धनराशि स्वयमेव चली आया करती है, तो उसे मार डाला गया। सम्राट् नु-मि-तिङ् को महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने विश्व का पहला समाजवादी कहा है। किन्तु, यह कहना कठिन है कि दान के द्वारा अपने राजकोष को प्रतिवर्ष रिक्त कर देनेवाले भारतीय सम्राट् रघु की कथा नु-मि-तिङ् की उक्त कथा से कम प्राचीन है।

आधुनिक युग मे राबर्ट ओवेन का प्रयोग भी लगभग ऐसा ही था। ओवेन अपनी पूँजी लगाकर एक ऐसा औद्योगिक द्वीप बसाना चाहता था जिसमें शक्ति के अनुसार श्रम करने और आवश्यकता के अनुसार सामान प्राप्त करने की सुविधा पर आधारित समता की व्यवस्था जारी की जा सकती। ओवेन की इस सदिच्छा के परिणाम को प्रयोगशाला-समाजवाद कहकर विचारकों ने गलती नहीं की। ढाई दशाब्द पहले इस प्रकार के सत्प्रयासों की चर्चा करते-करते श्री जयप्रकाश नारायण ने लिखा था कि प्रयोगशाला मे शीशे पर सात रंगों की किरणें उतारना और बात है, इन्द्रधनुष उगाना और बात। श्री जयप्रकाश नारायण को उस समय उसके अनुयायी भारत का लेनिन कहते थे। पर यह तथ्य आगे चलकर श्री जयप्रकाश नारायण ने नहीं, डॉ० लोहिया ने स्पष्ट किया कि यूरोप का समाजवाद, वह ख्वाबी हो या वैज्ञानिक, पैमाने के

बड़े होने के कारण और भी ख़तरनाक ढंग का प्रयोगशाला-समाजवाद ही है क्योंकि उसके पीछे शेष जगत् के शोषण और अपमान के आधार पर यूरोप को चमकदार बनाने की योजनाबद्ध ऐतिहासिक घटनाएँ और विचार-दर्शन हैं।

समता को प्रचार द्वारा लोकप्रिय बनाकर जनमत के आधार पर बनी सरकारों के द्वारा समाजवाद कायम करने की कल्पना यूरोप के सामाजिक लोकतंत्रियों ने भी की थी। पर, वे अपनी और करतूत से इतने बदनाम हो चुके थे कि मार्क्स और एंगेल्स ने जब यूरोपीय सर्वहारा वर्ग की 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' की रचना की, तो उसकी भूमिका में उन्होंने ऐसा स्पष्ट कर दिया कि वे अपने ग्रन्थ का नाम शोश्यलिस्ट मेनिफेस्टो भी रख सकते थे। पर, ऐसा उन्होंने नहीं किया, क्योंकि सामाजिक लोकतंत्रियों के चलते यूरोप में समाजवाद बदनाम हो चुका था। यह दूसरी बात है कि इन कम्युनिस्ट नेताओं ने भी अपने विचार-दर्शन को वैज्ञानिक समाजवाद कहने में किसी संकोच का अनुभव नहीं किया। फिर भी इस संप्रदाय के विचारकों ने समाजवाद के प्रति एक प्रकार की हीन धारणा बनाये रखी और यह उसी का परिणाम है कि ट्राट्स्की ने समाजवाद को साम्यवाद के पहले की व्यवस्थापरक अन्तर्दशा के रूप में व्याख्येय बताया। लोकतांत्रिक समाजवाद को बराबर यूरोपीय सामाजिक लोकतंत्रियों की तफ़शील में समझते रहे और 'कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो' के सम्बन्ध में अपनी टिप्पणी देते समय ट्राट्स्की ने लिखा है कि जनमत के नाम पर बनी यूरोप की ये समाजवादी सरकारें वस्तुतः शोषक वर्ग की कार्य-समितियाँ हैं और यदि उस वर्ग की स्वार्थरक्षा में उनसे थोड़ी भी चूक होती है, तो उन्हें जूते मार कर बर्खास्त कर दिया जाता है। ऐसे ढुलमुल समाजवाद के मुकाबले में साम्यवाद द्वारा अपने को वैज्ञानिक समाजवाद कहना उचित ही था।

लोकतंत्र का नाम लेने वाले समाजवादियों से कुपित रहने के बावजूद मार्क्सवादी विचारकों ने समाजवाद और लोकतंत्र के सम्बन्ध के प्रसंग में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। लोकतंत्र को स्पष्ट गर्हित करते उन्हें प्रायः संकोच होता रहा है, वे जब लोकतंत्र की निन्दा करते हैं, तो प्रायः इसलिए कि लोकतंत्र के नाम पर शोषण को नकली राजनीतिक न्याय और समता में छिपने को माँद मिल जाया करती है। ट्राट्स्की जैसे मार्क्सवादी विचारक तो स्पष्टतः ऐसा मानते रहे हैं कि लोकतंत्र समाजवाद में ही चरितार्थ हो सकता है। पर, लोकतंत्र की पूर्ण चरितार्थता के लिए, उनके अनुसार यह आवश्यक है कि

पूँजीवाद से समाजवाद में तब्दील होने वाली व्यवस्था की स्थिति के अनुसार, जनमत को सुरक्षित और सीमित कर दिया जाय। ऐसा न करने पर पूर्व-सत्तारूढ शोषक वर्ग का हथकण्डा होकर लोकतंत्र का समाजवाद के विरोध में उपयोग हो जा सकता है। इस संकट से बचाव के लिए वाञ्छनीय यह है कि पूर्वसत्तारूढ़ शोषक वर्ग को प्रचार और मतदान के अधिकार से तब तक के लिए वंचित रखा जाय जब तक कि नवसत्तारूढ़ सर्वहारा वर्ग पूर्णतः दृढ़ और प्रतिष्ठित नहीं हो जाता और समाज में वर्गभेद का अन्त नहीं हो जाता। इस वर्ग के विचारकों के अनुसार, सर्वहारा वर्ग की अभिव्यक्ति प्रायः कम्युनिस्ट पार्टी के द्वारा होती है। अतः पूँजीवादी व्यवस्था के नक़ली लोकतंत्र से समाजवादी व्यवस्था के वास्तविक लोकतंत्र के बीच के संक्रान्तिकाल में पहले एक-दलीय अधिनायकतंत्र, फिर सर्वहारा वर्ग के बहुदलीय अधिनायकतंत्र और अंत मे पूर्ण लोकतंत्र की व्यवस्था क्रमशः सम्भव है। पर इतिहास की विडम्बना ने वैज्ञानिक समाजवाद की इस कल्पना को कभी और कहीं पूरी नही होने दिया। स्वयं रूस मे कम्युनिस्ट दलीय अधिनायकवाद सर्वहारा वर्ग के प्रजातान्त्रिक अधिनायकवाद मे विकसित होने के बजाय, एक संकीर्ण राजनीतिक गुट के और फिर लगभग एक व्यक्ति के अधिनायकतंत्र में बदल गया जिसके परिणामस्वरूप केवल ट्राट्स्की की ही नही, रूसी क्रान्ति की लाल समिति के कुल पचीस सदस्यों में से दस की देर-सवेर हत्या की गयी और राजशक्ति के केन्द्रीकरण की यह प्रवृत्ति इतनी असहनशील और आक्रामक हो गयी कि दूसरे कम्युनिस्ट देशों को भी सत्ता के विकेन्द्रीकरण का अधिकार प्रथम साम्यवादी गणतंत्र के हाथो ही छिनने लग गया और इसका ताज़ा उदाहरण है—चेकोस्लोवाकिया के अन्दरूनी मामले में रूस का सशस्त्र हस्तक्षेप।

वैज्ञानिक समाजवाद की एक दूसरी निर्णायक भविष्यवाणी का भी लगभग ऐसा ही हाल हुआ। मार्क्स ने कहा था कि पूँजीवाद की आन्तरिक असंगतियाँ उसे दो खेमे में बाँटकर नष्ट कर देंगी और वातापी की तरह, पूँजीतंत्र का पेट फाड़कर सर्वहारा वर्ग की अगुवाई में समाजवाद प्रकट होगा। देखते-देखते इतिहास ने उन्नीसवी सदी के यूरोप के बड़े कर्मठ दार्शनिक की इस भविष्यवाणी की भी विडम्बना कर डाली जब पूँजीवाद के व चरमरूप साम्राज्यवाद के तथाकथित अन्तिम आत्मयुद्ध के दोनों ही पक्षो में सोशलिस्ट गणतंत्र बारी-बारी से सम्मिलित हुआ और उसके सहयोग से हीरोशिमा पर अणुबम फेंका

के अंतिम स्वातंत्र्य-युद्ध का अमानुषिक ढंग से दमन किया गया। इतना ही नहीं, दूसरे विश्वयुद्ध के एक दशाब्द बीतते-बीतते साम्यवाद की अपनी आन्तरिक असंगतियाँ ही रूस और चीन के दो विरोधी खेमों में प्रकट हो गयीं और पूँजीवाद से पहले ही, जैसे साम्यवाद आत्महत्या के लिए आतुर दिखायी पड़ने लगा।

यह सत्य है कि वैज्ञानिक समाजवाद के तर्कों ने लगभग एक सदी तक हर विचारधारा को पराजित और मौन बनाये रखा। किन्तु यह भी सत्य है कि कोई विचार अपनेतईं दूसरे विचार या विचारों को खण्डित नहीं कर पाता। हर विचार बरते जाने के क्रम में स्वतः अपना खण्डन और मण्डन करता है। साम्यवादी देशों और नेताओं के आचरण से साम्यवादी विचार इस दृष्टि से खण्डित हो चुका है और इतिहास ने अब वैज्ञानिक समाजवाद की अवैज्ञानिकता जाहिर कर दी है।

विरुद्धताओं के अविरोध के द्वन्द्वन्याय पर आधारित वैज्ञानिक समाजवाद अधिनायकवाद के द्वारा पूर्ण प्रजातंत्र की स्थापना, रूस की पिछलग्गू राष्ट्रीय नीतियों के आधार पर विश्वराज्य की स्थापना, रक्तक्रान्ति द्वारा समाज की शान्तिपूर्ण व्यवस्था और धर्मनिरपेक्ष नास्तिकता के द्वारा विश्व-बन्धुत्व के सदाचारी समाज के प्रवर्तन की प्रतिश्रुति लेकर लगभग एक सदी तक हर देश की युवा पीढ़ियों को उलटबाँसी में उलझाये रखा और संसार के शेष भाग इस यूरोपीय जादूगरी की लम्बी डींगों के सच होने की प्रतीक्षा में उसका आज्ञापालन भर करते रहे।

पूँजीवाद के प्रौढ़ होने तक की प्रतीक्षा में पिछड़े देशों के वैज्ञानिक समाजवादी जब रूस से इल्हाम माँग रहे थे जिसने खुद गिनती की तरह दासत्व-मुक्ति के लिए उतावली दिखायी थी, तो मानवता के नेता महात्मा गांधी ने तरस खाकर कहा था—

"मैं अपने को समाजवादी कहता हूँ···लेकिन मैं समाजवाद का उपदेश नहीं करूंगा जिसका अधिकतर समाजवादी करते हैं (पृ० १२)··· पूँजीवालों से उनकी पूँजी हिंसा के जरिये छीनी जाय, इसके बजाये यदि चरखा और उसके सारे फलितार्थ स्वीकार कर लिये जायें तो वही काम हो सकता है (पृ० १)। 'यह समाजवाद स्फटिक की तरह शुद्ध है। इसलिए उसे सिद्ध करने के साधन भी शुद्ध ही होने चाहिए। अशुद्ध साधनों से प्राप्त होने वाला साध्य भी अशुद्ध ही होता है (पृ० ७)।' सुनहरा नियम तो यह है कि

जो चीज लाखों लोगों को नहीं मिल सकती, उसे लेने से हम भी दृढ़तापूर्वक इन्कार कर दें (पृ० २०)। 'हमारे पास जो कुछ भी है, उस पर हमारा और आपका तब तक कोई अधिकार नहीं है जब तक सभी लोगों के पास पहनने के लिए पूरा कपड़ा और खाने के लिए पूरा अन्न नहीं हो जाता (पृ० २०)।' यदि हरेक आदमी जितना उसे चाहिए, उतना ही ले, ज्यादा न ले, तो दुनिया में गरीबी न रहे और कोई आदमी भूखा न मरे।" (पृ० २६)

लोकतांत्रिक समाजवाद के ये सूत्र कालान्तर में एक ऐसे मसीहा के द्वारा व्यवस्थित और स्थापित किये गये जो अपने को, सरकारी और मठी गांधीवादियों से अलग, कुजात गांधीवादी कहते थे। यह मसीहा थे—डॉ० राममनोहर लोहिया।

डॉ० लोहिया ने समाजवाद के पांच अवयवों के रूप में लोकतंत्र, अल्प पूंजी उद्योग, विकेन्द्रीकरण, अहिंसा और अन्तर्राष्ट्रीयता-संगतराष्ट्रीयता की स्थापना की और उनके प्रसंग में नर-नारी की असमानता मिटाने के लिए, रंगभेद पर रखी गयी आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और दिमागी असमानता मिटाने के लिए, पुराने संस्कारों पर आश्रित पिछड़े और ऊँचे समूहों या जातियों की असमानता के विरुद्ध पिछड़ों को विशेष अवसर देने के लिए, स्वतंत्रता हेतु परदेशी गुलामी के विरुद्ध तथा विश्वलोकराज के लिए, आर्थिक समानता के निमित्त निजी पूँजी की संस्था तथा मोह के विरुद्ध लोकतंत्रीय तरीकों के लिए तथा अस्त्र-शस्त्र के विरुद्ध अहिंसक सत्याग्रह के लिए ममतामूलक आदर्श की सात क्रांतियों की व्यवस्था दी। उन्होंने, वैज्ञानिक समाजवाद के विचारकों में प्रचलित पूंजीवाद की असंगतियों के परिपाक के सिद्धांत को स्पष्ट करते हुए बताया कि पूंजीवाद ही नहीं, हर व्यवस्था की कमर तब तक अपने ही बोझ से टूटती रहेगी जब तक एक देश, वर्ग या वर्ग का उत्कर्ष दूसरे देशों, वर्गों या वर्गों के अपकर्ष पर आधारित रहेगा और कमजोर को विशेष संरक्षण देकर बलशाली उसे अपनी समकक्षता में नहीं ले आयेंगे।

डॉ० लोहिया पहले विचारक हैं जिन्होंने बताया कि यदि अधिकतम उपादेयता की जगह पूर्ण सार्वलिक उपादेयता को लक्ष्य नहीं माना जाय, सबल राष्ट्र निर्बल राष्ट्रों का शोषण और दोहन करते रहे, यदि अगलों के द्वारा पिछड़ों का अपमान किया जाता रहा, गाँवों को शहरों के द्वारा और श्रम को पूंजी के द्वारा लूटा जाता रहा, तो इतिहास की चक्की चलती रहेगी और सभ्यता और समृद्धि की हर इमारत अपने ही बोझ से टूट कर गिरती रहेगी। अपनी इस आन्तरिक असंगति से केवल अमरीकी पूंजीवाद का ही नहीं, रूसी

और चीनी साम्यवाद का भी सर्वनाश अवश्यम्भावी है। पुरुष पुरातन की प्रिया आज तक एक घर से दूसरे घर, एक देश से दूसरे देश, एक सभ्यता से दूसरी सभ्यता में भटकती रही है। काबुल से अमरीका, ग्रीक से रूस, भारत से अरब जाकर वह कुछ नयी रोशनी नहीं लाती पुराने दीये की बुझी लौ को केवल नये दीये में लगा देती है। इतिहास के इस चक्रभ्रमण के भ्रम के अन्त के लिए उन्होंने लोकतांत्रिक समाजवाद के सगुण, सक्रिय रूप की स्थापना की। वस्तुतः डॉ० लोहिया की इन स्थापनाओं ने लोकतांत्रिक समाजवाद को अन्तर्राष्ट्रीय जागरण और संयोजन के उपयुक्त संघर्षों के लिए कारगर विचार-दर्शन बनाया। लोकतांत्रिक समाज की 'समता' वस्तुतः मानवता का पर्याय हो गयी है और इस प्रसंग में स्वयं डॉ० लोहिया ने फर्माया कि "समाजवाद मनुष्य जाति की, मनुष्यजाति के लिए, मनुष्यजाति द्वारा सरकार का विचार-दर्शन है, ताकि एक ओर जनता की, जनता के लिए और जनता के द्वारा सरकार हो तथा दूसरी कम्यून की, कम्यून के लिए और कम्यून द्वारा सरकार हो।"

लोहिया लेनिन और गांधी के बाद आये थे, इसलिए वे उन दोनों से और आगे की बातें कहें और करें, यह स्वाभाविक ही था। गांधी और लेनिन संत और कमाण्डर, धर्म और राजनीति का और भी अनोखा मेल उनके द्वारा निश्चय ही सम्भव था। उन्होंने यह तो बताया था कि धर्म दीर्घकालीन राजनीति है और राजनीति अल्पकालीन धर्म है। उन्होंने यह भी कहा था कि राजनीति बुराइयों से लड़ना है और धर्म अच्छाइयों को बरतना है और इसी प्रसंग में राष्ट्रों के अलग-अलग चौखम्भा राज्यों को अपने विशिष्ट योगदान से जनमत और समता के आदर्श पर आधारित एक अहिंसक पंचायती विश्वराज्य की रचना करनी है। किन्तु धर्मनिरपेक्षता की राजनीति में अपने उपयुक्त साहस की यह बात कहने के पहले ही वे गुजर गये कि वैसे विश्वराज्य की .स्थापना और संचालन वस्तुतः विश्वधर्मों के ही आधार पर सम्भव है। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने लोकतंत्र और समाजवाद की अपलायक असंगतियों में अधिकांश का निराकरण किया और नयी संगतियों की योजना की। पर जहाँ तक इतिहास के नियति-व्यंग्य की बात है, लोहिया की भी अपने अनुयायियों के हाथ वही गति हुई जो लेनिन और गांधी की, उनसे पहले, अनुयायियों के हाथ हो चुकी थी और उस इकाई पर चढ़ने वाले सारे शून्य समाजवाद और लोकतंत्र के सूफी फ़कीर के सपनों को शून्य करते चले गये। यह दुर्भाग्य की बात है कि सर्वहारा वर्ग के रूसी और चीनी अधिनायक जिस प्रकार शक्ति को केन्द्रित करते जा रहे हैं, जनतंत्र की शपथ खाने वाले, लोकतांत्रिक समाजवाद

के भारतीय नेता केवल अवसर के अभाव में, उस अनुष्ठान में, उनसे पीछे रह गये हैं और एक महान तपोमय तथा घोर फ़कीर के अनुयायी और ऋषियों और तपस्वियों की भूमि के निवासी होकर भी वे शक्ति और भोग के मोह से मुक्त होकर लोकतांत्रिक समाजवाद के फूल के नवजात पौधे की जड़ में अपनी देह और मन को खाद बनाकर नहीं डाल सके। संभवतः इसका कारण यह है कि विश्व की अगली सभ्यता शक्ति के द्वारा नहीं, तपस् और तितिक्षा के द्वारा स्थापित होगी और उसके पहले इतिहास की छिन्नमस्ता शक्ति केन्द्रों को संपूर्णतः ध्वस्त और कदर्थित करने का औचित्य विज्ञापित करने लग गयी है।

लोकतांत्रिक समाजवाद के प्रत्यय-विकास के क्रम मे समता के भावाभेद से 'मानवता' के पर्याय के रूप में गुणभेद स्वयं मे एक अजीब मनोज्ञ सैद्धान्तिक सिद्धि है। डॉ० लोहिया की स्थापना ने वस्तुतः लोकतांत्रिक समाजवाद को मानवता और उसके भविष्य की आशाप्रदता का पर्याय बना दिया है। इस प्रसंग में यह आवश्यक ही है कि साहित्य, जो स्वयं मानवता के अनेक महत्त्वपूर्ण पर्यायों में अन्यतम है, अपने स्वभाव और स्वधर्म की प्रेरणा लोकतांत्रिक समाजवाद को प्रतिष्ठित और अस्वर करने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका चरितार्थ करे।

यह अपने आप में एक महत्त्वपूर्ण घटना है कि गांधी जी ने २०-२-३७ के 'हरिजन' में जब समाजवाद के प्रसंग में लिखा था, तो उन्हे भारत के आर्य साहित्य का स्मरण हो आया था। उन्होंने लिखा है :

"समाजवाद का जन्म उस काल मे नहीं हुआ था जब यह पता लगा कि पूँजीपति पूँजी का दुरुपयोग करते हैं। जैसा कि मैंने कहा है, समाजवाद ही नहीं, साम्यवाद भी ईशोपनिषद् के पहले मंत्र मे स्पष्ट है।" और यह निरा संयोग नहीं है कि सच्चे समाजवाद का जब उससे पहले २-१-३७ को 'हरिजन' में उन्होंने निरूपण किया था, तब भी उन्हें हिन्दी के भक्त कवि का एक दोहा स्मरण हो आया था : 'सबै भूमि गोपाल की'। उन्होंने लिखा है :

"सच्चा समाजवाद तो हमे अपने पूर्वजो से प्राप्त हुआ है जो हमें यह सिखा गये हैं : सब भूमि गोपाल की है, उसमें कही मेरी और कही तेरी की सीमाएँ नहीं हैं। ये सीमाएँ आदमियों की बनायी हुई हैं और इसलिए इन्हें तोड़ भी सकते हैं।"

साहित्य समाजवाद का लगभग समानधर्मा है—इसका एक बहुत बड़ा कारण उसके माध्यम भाषा का स्वरूप और स्वभाव है। भाषा स्वभावतः सामाजिक सामग्री है और उसके वैयक्तिक संचय का प्रश्न ही अस्वाभाविक है।

मनुष्य शेष प्राणियों से अपनी जिस मनस्विता के आधार पर श्रेष्ठ होने का गर्व करता है, उस मन का वह अधिकरण है और जिस आत्मवत्ता के कारण वह सच्चिदानन्द का अर्हत् पात्र है, भाषा को उस आत्मा का अंग कहा गया है। औज़ार बनाने और चलाने वाले सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य के प्रसंग में, कहते हैं कि श्रम के क्रम मे हाथ और मन के साथ भाषा भी उपज आयी और इसलिए कर्म और चिन्तन की वह यमजा सहोदरा है। पंचतत्त्वों में सर्वाधिक सूक्ष्म आकाश तत्त्व का गुण होकर वह प्रत्येक अभिधेय का अभिधान ही नहीं करती, उनके उपादान मे भी सतत विद्यमान रहती है।

इस सूक्ष्म, सामाजिक, आकाशमनोमय माध्यम का जो परम साम्यमय, अतः अन्तर्राष्ट्रीय और अकस्यचित्कर रूप है, साहित्य के लिए उसे ही अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त बताया गया है। वाणी का जो भाग कर्णकुहर में कम्पन फैलाकर चुक जाता है, वह साहित्य का नहीं, संगीत का द्रव्य है। साहित्य की भाषा तो उसके निःशेष हो जाने पर ही अपनी अशेष शक्ति के साथ जगती है। किन्तु उन शक्तियों में भी अभिधा और लक्षणा से जो अधिक सूक्ष्म है, अब व्यंजना को साहित्य के लिए पसन्द किया जाता है। इस सूक्ष्म व्यंजना को भी साहित्य के उपयुक्त कैवल्य प्राप्त करने के लिए ध्वनि बनकर सूक्ष्मतर विदेहत्व से सूक्ष्म होता है और इस सूक्ष्म रूप में भाषा की द्राक्षा का केवल आस्वादमय रस बच रहता है, छिलके, गूदे और गुठली के हिस्से छूटकर छिटक गये होते हैं। सच्चा साहित्य, इस प्रकार, महज भाषा से नहीं, भाषा की तपस्या—अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं हितं च यत्—से फलित होता है। इस रूप में साहित्य का स्वभाव ही समतामय होता है, ऐसा रस के साधारणीकरण और समूहबद्धात्मकता से स्पष्ट है। इसी समता को विनोबा जी अहिंसा कहते हैं। उत्तम साहित्य अभिधायक नहीं, सूचक होता है, बिना आहट के हृम में अँट जाता है। साहित्याचार्यों ने साहित्य के ऐसे अहिंसामय निवेदन को कान्तासम्मित उपदेश कहा है जो साम्यमय और अहिंसामय अतः प्रेममय है, वह सबका होकर एक है। इसलिए साहित्य स्वभावतः अन्तर्राष्ट्रीय है। सिकन्दर और तैमूर, हिटलर और चर्चिल भले ही किसी देश के हीरो हों, पर होमर और फ़िरदौसी, गेटे और शेक्सपियर हम सभी के हैं। अंग्रेजी और ग्रीक भाषा हमारी जीभ काटने वाली तलवार हो सकती है, पर उन्हीं भाषाओं में लिखित 'इलियड' और 'बन्र्ट नार्टन' तो हमारा हृदय-हार है। सच्चा साहित्य वस्तुतः हर किसी का स्वदेश, हर किसी की धात्री है, वह अन्तर्राष्ट्रीय नर-सम्पत्ति है :

"कीरति भनिति भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥"

साहित्य स्वभावतः लोकतांत्रिक समाजवाद का समानधर्मा है, क्योंकि वह परस्मैपदीन रस की सदानीरा होने के कारण सहृदयता, प्रेम, अहिंसा और समता के सर्वजनीन अन्तर्राष्ट्रीय स्वदेश को नर-जाति के भावक्षेत्र में प्रतिष्ठित करता आया है और उसका माध्यम भाषा स्वभावतः सूक्ष्म, सामाजिक और विकेन्द्रणोन्मुख है। महज इस तथ्य से लोकतांत्रिक समाजवाद के प्रति साहित्य की भूमिका चरितार्थ नहीं हो जाती। स्वभाव अन्ततः एक विशिष्ट प्रकार की सम्भावना भर होता है और सम्भावना की चरितार्थता के लिए साधना की अपेक्षा होती है तथा साधना के लिए साधक की।

साधक के अभाव में अथवा अन्यथाभाव में साहित्य के प्रकृत धर्मों का साहित्य के ही द्वारा वैसा अपलाप सम्भव है, जैसा जर्मनी के राष्ट्रीय समाजवादियों द्वारा समाजवाद का अपलाप किया जा चुका है। समाजवाद के प्रसंग में १३-७-७४ के 'हरिजन' में गांधी जी ने लिखा था :

"समाजवाद पहले समाजवादी से शुरू होता है। अगर ऐसा एक भी समाजवादी हो, तो आप उस पर शून्य बढ़ा सकते हैं। पहले शून्य से उसकी ताक़त दसगुनी हो जायगी। उसके बाद हर एक शून्य का अर्थ पिछली संख्या से दसगुना होगा। परन्तु यदि आरम्भ करने वाला स्वयं ही शून्य हो—तो कितने शून्यों के बन जाने पर भी परिणाम शून्य ही होगा। शून्यों के लिखने मे जितना समय और कागज खर्च होगा, वह भी व्यर्थ जायगा।" गांधी जी ने जो समाजवादियों के सम्बन्ध मे कहा, वह साहित्यकार के प्रसंग में भी उतना ही मौजूं है।

साधक पेशगी या फर्मान लेकर साधना नही करता। यह दूसरी बात है कि हसिए हथौड़े या हल-चक्के पर कविता लिखी जा सकती है, तिल को ताड़ और ताड़ को तिल साबित करने के लिए अक्षरों के तार जोड़े जा सकते हैं, समाजवाद का नाम लेकर ऐयाशी करने वाले हवाई मिनिस्टिरों के त्याग और तपस्या के झूठे लतीफे गढ़े जा सकते हैं और ऐसा कर मतलब साधने वाले पर्चेबाज छैले समितियो मे नामज़दगी और नौकरी में तरक्की पा सकते हैं। पर इस बेहयाई का समाजवाद और साहित्य से कोई जायज सरोकार नही रह सकेगा।

साहित्य लोकतांत्रिक समाजवाद के लिए वस्तुतः वही कर सकता है जो चुक्कियों, मसखरो, हाँ-हुजूरों, मार्कनन्दनों के क़ाफ़िले तथा भाषणानन्द वज़ीरों

के दल नहीं कर सकते और ऐसा वह स्वधर्म के कारण कर सकता है, पुरस्कार, फ़र्मायश, तरक्क़ी, वाहवाही और लाभ के लोभ में नहीं। विचारक की उद्‌भावना, नेता के निश्चय, शास्त्रकार के निरूपण और प्रशासक तथा राजपुरुष के व्यवस्था-संचालन किसी राजनीतिक भावधारा को अपने नेतृत्व में अधिक-से-अधिक, केवल संचारी दशा तक पहुँचा सकते हैं, पर साहित्य तो उसे जन-जन का संस्कार बनाकर समाज की आगामी पीढ़ियों के हृदय-तल में अधिष्ठित कर सकता है और इस तरह कालपुरुष की इतिहास-परायण सहृदयता में उसे रस-पदवी तक पहुँचने की योग्यता से सम्पन्न बनाकर स्थायी देश तक ले जा सकता है। साहित्यकार यदि सिद्ध और समर्थ हो, तो वह वाल्मीकि की तरह राजनीतिक भविष्यत् को और व्यास की तरह उसके अतीत को अपने वर्तमान मे बैठे-बैठे बाँध सकता है, उसके अकाल को त्रिकाल मे और त्रिकाल को अकाल में देख और दिखा सकता है, पर अपने इस विराट् रूप से पृथक् होकर अपने वामन रूप में भी वह अपनी पसन्द की राजव्यवस्था का कल्याण कर सकता है। वह चन्द की तरह अपने पृथ्वीराज का जन्म और मरण में साथ दे सकता है, वाल्मीकि की तरह स्वयं जंगल में रहकर राजभवन के निर्वासित निरपराध सतीत्व के प्रतिशोध-समर्थ मातृत्व से मंडित होने की अवधि तक शरण और संरक्षण देकर रामराज्य का मूल सुधार दे सकता है और व्यास की तरह अपने नियोगजात वंशजों के द्वेषमय द्वापर के युद्ध-अवशिष्ट शोणित-समुद्र में स्वयं को खड़ा रखकर भी आने वाले विजातीय युग को निष्कम्प, अनसूय और शुद्धभाव से असीस सकता है :

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद्‌दुःखभाग् भवेत ॥"

यदि लोकतांत्रिक समाजवाद को कभी साहित्य का ऐसा साधक मिलेगा, तो पुरस्कार, परवरिश और नामजदगी के लोभ से नहीं, यों उस पर पड़े हुए शून्य का मोल जरूर दसगुना बढ़ता जायेगा।

यह दूसरी बात है कि जिस दीवालिये व्यवस्था के बाज़ार में सब कुछ बिकाऊ है, तो उसमें साहित्य को भी पण्य के रूप में अपने अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करना होगा और तब तो साहित्यकार को भी अपने घाटे और मुनाफ़े का हिसाब रखना ही होगा। कारण स्पष्ट है :

"बुभुक्षितैः व्याकरणं न भुज्यते,
न पीयते काव्यरसः पिपासितैः ॥"

वैसी व्यवस्था में रहीम को मन्सबदारी करनी होगी, गंग को सिज्दा बजाना होगा, कुंभनदास को फ़तेहपुर-सीकरी और तुलसी को दिल्ली के दरबार मे हाज़िरी देनी होगी और उनके साहित्य में इन अदायगियों की भी अदाएँ हो, यह सर्वथा स्वाभाविक है। लेकिन यदि साहित्यकार सच्चा है और उसका साहित्य, त्रिकाल के ताल पर थिरकने वाले तारो की झंकार से मेघजल की तरह स्वभावत: झडकर उतरा है तो आपद्धर्म के बीच स्वधर्म के ऐसे मौके भी आ ही जाते हे जब उसे मन्सबदारी गँवाकर भार झोंकना पड़ सकता है, सिज्दा बजाना बन्द कर हाथी के पैरों तले कुचला जाने के लिए रुख्सत होना पड़ सकता है, सलाम किये जाने वाले के मुख को देखकर दु:ख लग सकता है और उसके दिल में प्राकृत जन गुणगान करने के पाप के पश्चात्ताप में गिरा सिर धुन कर रो सकती है। और सच पूछिये तो, इसी कारण अदायगियों के बीच रह स्रष्टा और प्रणेता बनने का अवसर भी पाता रहता है। यों गुलाब को हम गुलकन्द बनाकर जब खाना चाहते हैं तो काँटों में खिलखिलाने वाली हँसी का रग उड़ जा चुका होता है, लेकिन बची रहनेवाली खुशबू भी कोई कम बड़ी चीज़ नही होती, गो कि वह गुंजन से ज्यादा सीत्कार से सामीप्य रखती है और उसको पता देकर उससे कहीं बड़ी चीज़ वहाँ से लापता हुई होती है।

यहाँ यह कह देना जरूरी है कि कोई भी व्यवस्था अपने शिकंजे की मजबूरी में साहित्यकार को बाँधकर जब उससे साहित्य उगाहने लगती है, तो सच्चे साहित्यकार को दारण पीड़ा होती है और उसका स्वधर्म टूटने लगता है। समाजवाद भी इसका अपवाद नही है। मायाको रूस के समाजवादी तानाशाह के दरबार-ए-आम में घोषणापूर्वक कवियों को ललकार कर कह सकता है—दोस्तो, ऐसी पुरज़ोर कविताएँ लिखो जो लाल सेना के हर कदम पर ताल दे सकें, ताकि पार्टी के अपने सालाने जलसे में जब कामरेड स्तालिन इस्पात की राष्ट्रीय पैदावार की रपट पेश करने लगें, तो वे कविता के उत्पादन का हिसाब देना न भूलें। लेकिन, ऐसा कह चुकने के बाद भी वह साहित्यकार के उस स्वधर्म से पल्ला नहीं झाड पाता है जिसकी खातिर उसका दर्द उसे आत्महत्या करने को विवश कर देता है और यंत्रणा-कैम्प से बचने के लिए वह जो कुछ रचता है, उसके प्रायश्चित्त में उसे अन्ततः खुदकुशी करनी ही होती है। यों यह भी आवश्यक नहीं है कि हर साहित्यकार अपने स्वधर्म को न पाल सकने की पीड़ा को भोगने के लिए तैयार हो जाय। प्रतिभाएँ

वेश्यावृत्ति नहीं कर सकती और आदमी की जीभ कुत्ते की दुम की तरह नहीं हिला करती, ऐसा हर मिसाल के लिए जरूरी नही कहा जा सकता।

ऐसा भी सम्भव है कि साहित्यकार साहित्य-सृष्टि के प्रसंग मे जैसा रहता है, उससे वह बिल्कुल भिन्न और विरुद्ध होकर जिया करता हो। फिर भी कभी-कभी सच्चे नेता और सच्चे प्रणेता की एक जैसी गति हो ही जाती है और तब दोनों ही धैर्य पीकर, संतोष खाकर विपुला पृथ्वी और निरवधिकाल में अपने समानधर्मा की प्रतीक्षा करते अविचल खड़े रह सकते हैं और द्वापर-रक्तसागर में आकण्ठ डूबकर महाभारत का प्रणेता और कलियुग के अणुबम के धुएँ मे गुम होकर लोकतांत्रिक समाजवाद का नेता संयोग से कभी-कभी बिल्कुल एक ही जैसे वाक्य कहकर उत्तराखण्ड की ओर प्रस्थान करते हैं :

"ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येण नहि कश्चिच्छृणोति मे।"

हाँ, आज मेरी बात जनता नही सुनती है, लेकिन एक दिन सुनेगी जरूर, लेकिन तब शायद मैं नहीं रह जाऊँगा।



राजनीति और साहित्य

कहा जाता है कि अरब शाहशाहों में से एक विजय करता हुआ मिस्र के अलेक्ज़ेन्ड्रिया नगर मे पहुँचा। वहाँ एक बहुत बड़ा पुस्तकालय था जिसमें दुनिया की तत्कालीन और पुरानी बड़ी नायाब किताबें इकट्ठा थीं। बादशाह ने हुक्म दिया कि इस पुस्तकालय को जला डालो। उसके धर्मान्ध अनुयायियों को भी इस हुक्म को पूरा करने मे एक बार हिचक हुई। उन्होंने बादशाह के सामने अदब से एक बार कुछ तर्क उपस्थित करने की कोशिश की। बादशाह ने अधिक जोरदार तर्क से उनका मुँह बन्द करते हुए कहा, "अगर इन किताबों में वे चीजें लिखी हैं जो कुरान से मेल नही खाती तो निश्चय ही वे कुफ्र हैं और इसलिए जला डालने के काबिल हैं, और अगर इनकी बातें वही हैं जो कुरान में लिखी जा चुकी हैं तो ये सब किताबें फ़िज़ूल हैं और इनके जला डालने से कोई नुकसान न होगा।" अतएव अलेक्ज़ेन्ड्रिया का पुस्तकालय जला डाला गया।

हो सकता है कि उपर्युक्त घटना केवल कपोल-कल्पित हो। हो सकता है कि यह अलेक्ज़ेन्ड्रिया के पुस्तकालय के बारे में न होकर, नालन्दा या किसी अन्य पुस्तकालय के बारे मे हो। बहस इससे नही है। यह कथा पुस्तकों और साहित्य के बारे में एक ऐसे दृष्टिकोण का प्रतीक है जो जीवन और सत्य की एक व्याख्या को मानने के बाद अपने कट्टर विश्वास में इतना अन्धा हो जाता है कि किसी अन्य दृष्टिकोण को एक क्षण के लिए भी बरदाश्त नही कर सकता। केवल इतना ही नहीं, इसमे सारे सामाजिक जीवन को केवल एक दर्शन और संस्था विशेष के ढाँचे में कसकर परिचालित करने का उत्कट उत्साह भी निहित है।

दुनिया की सभी सभ्यताओं में एक ऐसा युग रहा है जब उनके जीवन-दर्शन, नैतिक मूल्य, महत्वाकांक्षाएँ, विनाश और निर्माण की उथल-पुथल, यानी सारा सामाजिक ढाँचा धर्म और उसकी संस्थाओं से परिचालित था। जिस अनुपात में धार्मिक संस्थाओं और उनके प्रतिनिधियों का आधिपत्य समाज और उसकी शक्तियों पर रहा है, उसी अनुपात में विचार, कला और

विज्ञान पर धार्मिक मान्यताओं और पौराणिक रीतियों का आधिपत्य रहा है। प्रारम्भ में तो अधिकतर ऐसा था। दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र, आचार-शास्त्र आदि सामाजिक विज्ञानों की कौन कहे भौतिक विज्ञान भी, जैसे रसायन, गणित, ज्योतिष आदि भी धर्म से इतने मिले-जुले हुए थे कि उन्हें अलग करना मुश्किल था।

धर्म के इस आधिपत्य के दो कारण थे। एक तो यह कि प्राकृतिक परि-स्थितियों के विषय में मनुष्य का ज्ञान इतना थोड़ा था कि सामान्य तर्क से वह उनका विश्लेषण करने में असमर्थ था। अतएव सामान्य दैनिक अनुभवों के लिए भी उसे तर्क के अतिरिक्त अन्य रागात्मक अथवा रहस्यात्मक प्रवृत्तियों का सहारा लेना पड़ता था—इस प्रकार श्रद्धा, विश्वास, दैविक प्रेरणा, भय, भक्ति आदि के द्वारा धर्म को प्राधान्य मिला। यह बिल्कुल स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मनुष्य अपने वातावरण से सम्बन्ध स्थापित किये बिना नहीं रह सकता क्योंकि यही प्रकृति-पुरुष सम्बन्ध उसके जीवन की अनिवार्य द्वन्द्वात्मक गति है। जब तक यह सम्बन्ध सामान्य बुद्धि या तर्क से अनुभूत नहीं हो जाता तब तक के लिए उसे कुछ-न-कुछ, अन्धविश्वास ही सही, चाहिए। जिस तरह बच्चा जब तक चन्द्रमा के कलंक को अपने सामान्य अनुभवों से सिद्ध नहीं कर पाता तब तक उसके लिए चन्द्रमा में बैठी हुई चर्खा कातने वाली बुढ़िया की कल्पना ही काफी है। बौद्धिक विश्लेषण से बाहर धार्मिक घोषणाओं पर *आधारित सत्यों की मान्यता शुरू में निर्विवाद थी। गड़बड़ी तब शुरू हुई जब* मनुष्य की तर्क-शक्ति ने धीरे-धीरे जागृत होकर बुद्धिगम्य अनुभवों की घोषणा की और इन अनुभवों और धार्मिक अनुभवों में विरोध पैदा हुआ। मान्य-मूल्यों की नयी व्याख्या की आवश्यकता पड़ी और प्रश्न उठा कि नयी और पुरानी घोषणाओं में से किसे सुधारा जाय। निर्णय अन्ततः उन वर्गों की पारस्परिक शक्ति के आधार पर हुआ जो इन दो प्रकार के अनुभवों के प्रतिष्ठाता रहे हैं।

समाज के जीवन और उसके दर्शन में धर्म के प्राधान्य का एक दूसरा कारण भी था। वह था धार्मिक संस्थाओं और पुरोहित वर्गों का उदय और समाज के अन्य वर्गों पर उनके अधिकार और सत्ता के विस्तार की सीमा। समाज पर धर्म के एकाधिकार के दो मुख्य युग हैं। एक वह युग जिसे एंगेल्स ने बर्बर काल कहा है। जब इससे आगे चलकर कृषि और उसके साथ-साथ *दास-स्वामियों का समाज पर अधिकार हुआ, तब नये वर्ग ने पुरानी मान्य-*ताओं के विरुद्ध अपने संघर्ष में नयी तार्किक जिज्ञासाओं को जन्म दिया। इस

प्रकार प्रारम्भ में धर्म से अलग या उसके समानान्तर साहित्य और दर्शन की रीति सामने आयी। अधिकतर सभ्यताओं में कला और साहित्यिक रचनाओं का यह प्राथमिक विस्फोट है। यह याद रखना चाहिए कि विचार-विमर्श पूर्णतया धर्म का विद्रोही होकर नहीं आया, क्योंकि उस समय की प्रगति इतनी आगे नहीं हुई थी। फिर भी धर्म का एकछत्र साम्राज्य नहीं था और स्वतन्त्र विचारों की सम्भावना थी। धर्म केवल इन नये विचारों के स्रोत या पुष्टि के लिए प्रयुक्त था, ठीक उसी प्रकार जैसे पुराने धार्मिक पुरोहितों में से कुछ ने नये दास-स्वामियों के महत्त्व को स्वीकार किया और अपने ही वर्ग के एकाधिकार के विरुद्ध इनका समर्थन किया। इस परिस्थिति का अच्छा उदाहरण हम ग्रीस की प्रारम्भिक रचनाओं में पाते हैं। उस समय के महाकाव्यों, नाटकों या दर्शन में मूलतः धार्मिक मान्यताएँ या गाथाएँ हैं, लेकिन वे अधिकतर रूढ़िगत धर्म के बाह्याचार में परिवर्तन या परिमार्जन करने के लिए प्रयुक्त हुई हैं। भारत में भी महाकाव्यों, विशेषतः महाभारत और उपनिषद्मूल सिद्धान्तों की प्रवृत्ति से पता चलता है कि पुराने पुरोहितवर्ग के एकाधिपत्य को चुनौती देने के लिए धर्म की मान्यताओं का नया तार्किक विश्लेषण करने की आवश्यकता पड़ी। इस प्रकार विचारों में उदारता की नीति दिखलायी पड़ी।

ग्रीस और रोम के दास-स्वामी समाज के विनाश के पश्चात् सामन्तशाही के युग में यूरोप में दूसरी बार धर्म के एकाधिकार का बोल-बाला दिखलायी पड़ता है। यूरोपीय इतिहास में लगभग एक सहस्र वर्ष का सामन्तवादी युग, जिसे मध्यकाल और 'डार्क एज' (अन्धकाल) भी कहते हैं, कई प्रकार से एक दिलचस्प युग है। संत पीटर का ईसाई चर्च अपने पूरे अधिकार के साथ समस्त समाज पर छा गया और नये सामन्त वर्ग का पोषक, और एक प्रकार से स्वामी बन कर, राज्य करने लगा। इस नये चर्च के पास जबर्दस्त धारणाएँ थीं और अपनी सत्यता तथा उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में अडिग विश्वास था। अतएव इसके विस्तार के साथ-साथ धर्मान्धता अपने अत्यन्त उग्र रूप में आयी और जिस तरह उसने पुराने दास-स्वामियों का विनाश किया, उसी तरह उसने रोम और ग्रीस के उदार और जिज्ञासा-मूलक अनुसन्धानों और साहित्य को भी जड़ से उखाड़ फेंका। होमर, अफ्लातून, अरस्तू, सिसरो और सिनेका इतिहास के पर्दे से इस तरह गायब हुए जैसे उनका कभी अस्तित्व ही न रहा हो। पुरानी किताबें खोज-खोज कर नष्ट की गयीं और मनुष्य की जिज्ञासाओं के जबरदस्त शाहकार हजारों वर्षों तक अज्ञात कन्दराओं

की धूल फांकते रहे। इस युग का प्रमुख साहित्य केवल धार्मिक साहित्य है। लिखने का अधिकार केवल पादरियों को रह गया और यदि अन्य कोई लिखता भी था तो उस पर चर्च का जबरदस्त अनुशासन और सेन्सर काम करता था। अपने इस सेन्सर के अधिकार का प्रयोग चर्च के अधिकारी काफी अच्छी तरह करते रहे ताकि कहीं से एक वाक्य भी कुफ़ का न आ पहुँचे। प्रारम्भ के चर्च-साहित्य में, जब वह नये विकास का द्योतक था, गौरव और मिशन की भावनाएँ हैं जो निश्चय ही समाज को बल और गति प्रदान करती रही होंगी। लेकिन आगे चल कर वह केवल क्रूर और जड़ निषेधों का रूप धारण करने लगी।

इस्लाम के उदय के समय, पश्चिमी एशिया में भी इसी प्रकार नये समाज का दार्शनिक अस्त्र पूर्ण रूप से नया धर्म हुआ। इस्लाम ने अरब जातियों को अपनी सर्वनाशी बर्बरता से सहसा जगाकर किस तरह उनमे नयी मान्यताओं और नये समाज के निर्माण के प्रति एक अदम्य लालसा और विश्वास पैदा कर दिया, यह विश्व की महान् क्रांतिकारी घटनाओं में से एक है। लेकिन ध्यान रखने की बात यह है कि इसके साथ भी धर्म का वह एकाधिकार था जो समाज में अपने अतिरिक्त किसी भी प्रकार की जिज्ञासा को समूल नष्ट कर देना बेहद जरूरी समझता है। इसलिए यदि इस्लाम के उग्र विस्तार के युग में ऐसी घटनाएँ, जिनका जिक्र हमने शुरू में किया है, घटी हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

मध्यकालीन यूरोप और इस्लाम के सामन्तवादी साम्राज्य के आर्थिक संगठन में विभिन्नता होते हुए भी मौलिक रूप से हम कई प्रकार की समानता पाते हैं। और इसी प्रकार उन दोनों की दार्शनिक व्यवस्थाओं को, जिन्हें उन्होंने जन्म दिया, पुष्ट किया, सांस्कृतिक और जीवन के मूल्यों का आधार बनाया तथा अपने वर्ग के आधिपत्य के लिए दार्शनिक हथियार की तरह प्रयुक्त किया, हम कई गुणों मे समान पाते हैं। पहले तो यह कि दोनों का ही दार्शनिक आधार-स्तम्भ धर्म है। इसकी मूल प्रवृत्ति उन्हें बर्बर (जर्मनी, अरब) अथवा दास-स्वामी समाज (रोम) से विरासत में मिली थी। इसका अर्थ यह था कि मनुष्य की तार्किक और भौतिक-वैज्ञानिक जिज्ञासाओं ने अब तक जो खोज की थी, वह बहुत ही थोड़ी बल्कि नगण्य थी और इन खोजों के आधार पर विश्व और प्रकृति का कोई ऐसा तार्किक रेखाचित्र भी तैयार नहीं किया जा सकता था जो समन्वित हो और श्रद्धा-विश्वास पर आधारित आध्यात्मिक या पारलौकिक परम्परा से पुष्ट विश्व-दर्शन को चुनौती दे सके। संक्षेप में अभी

तक वह ऐतिहासिक परिस्थिति नहीं उत्पन्न हुई थी जो तर्क और धर्मनिरपेक्षता को शासक वर्ग का दर्शन बना सकती ।

दूसरे यह कि दोनों का उत्थान विचारों में जबरदस्त एकाधिकार—अर्थात् टोटेलिटेरियन ढंग के साथ हुआ । इस एकाधिकार के दो लक्षण हैं । एक तो यह कि विचार, दर्शन, साहित्य आदि के प्रसार, परिवर्तन और परिवर्धन आदि का अधिकार अधिकांश ही नहीं बल्कि पूर्णतया केवल एक विशेष वर्ग के हाथ में रहा जो सख्त दमन और कभी-कभी तो मृत्यु-दण्ड के साथ अधिकार को उपयोग में लाता रहा । यूरोप में यह विशिष्ट वर्ग पादरियों का और दक्षिण-पश्चिमी एशिया में मौलवियों का था । दूसरी ध्यान रखने की बात यह है कि विचारों को प्रकट करने वाले सभी शास्त्र, और विशेषतः साहित्य एवं कला, एक मौलिक दर्शन अर्थात् धर्म के सिद्धान्तों के साथ इस तरह जकड़ दिये गये कि उनका सीधा सम्बन्ध चिरन्तन-प्रवाहयुक्त जन-जीवन के साथ न होकर उस धर्म-दर्शन से हुआ जो स्वयं जीवन न होकर जीवन की दार्शनिक व्यवस्था मात्र था । मार्क्स ने कहा है कि जन-जीवन यदि बुनियादी ढाँचा है तो धर्म, विचार, शास्त्र, कला आदि बाह्य ढाँचे हैं । इस प्रकार साहित्य स्वयम् एक अपने नियमों से परिचालित होने वाला बाह्य ढाँचा न रह कर, अन्य बाह्य ढाँचे का बाह्य ढाँचा बनने के लिए विवश हो गया । और इस पर विचार करने की बात यह है कि धर्म की विचार-धारा 'भौतिक जीवन से अधिक दूर है और उससे बिल्कुल असम्बद्ध मालूम पड़ती है ।' (फ्रेडरिक एंगेल्स, 'लुडविग फ़ायरबाख')

जर्मन सामन्तवाद को अपने प्रभुत्व को बनाये रखने के लिए ऐसा क्यों करना पड़ा ? इसके उत्तर में हम उसके स्रोत को याद करें । 'जो कुछ भी स्फूर्ति और जीवन-दामिनी शक्ति रोमन संसार में जर्मनों ने डाली, वह 'बर्बरता' थी । सत्य तो यह है कि केवल बर्बर ही एक मृण्मय सभ्यता के चंगुल में कराहती हुई दुनिया को नया जीवन प्रदान करने में सफल होते हैं । और बर्बरता का उत्तर-काल, जिसमें जर्मन पहुँच चुके थे, इस संतरण के लिए सबसे अधिक अनुकूल था । यह बात सब कुछ स्पष्ट कर देती है ।' (फ्रेडरिक एंगेल्स, 'परिवार, राज्य आदि का आरम्भ') जैसा स्वयम् एंगेल्स ने कहा है, इस सिद्धान्त से सारी शंका का समाधान हो जाता है । उस ऐतिहासिक समय में जर्मनों को केवल अपनी सहज वीरता और फ़ौजी उत्साह के बल पर, जो उनके उत्तर बर्बर काल की निशानी थी, एक ऐसे समाज का विनाश करना पड़ा जो भौतिक रूप से अन्दर-अन्दर बिखर चुका था, पतन के गर्त में जा रहा था, लेकिन जिसकी सांस्कृतिक प्रगति बर्बर जर्मनों से कई युग आगे

की थी। विजित समाज को पुनर्निमित करने का, और उसे भविष्य का रास्ता बताने का काम ऐसे विजेताओं के ऊपर पड़ा जो विजितों से पिछड़े हुए थे। ऐसी दशा में यदि भौतिक शक्ति और वर्ग शक्ति के आधार पर विजेता रहते भी तो भी उन्हें संस्कृति में दासता स्वीकार करनी पडती, क्योंकि उनके पास स्वयम् ऐसा कुछ नहीं था जिससे वे पुरानी संस्कृति को परिमार्जित करके अपने हित में प्रयुक्त करने में सफल होते। फलतः उस जबरदस्त एकाधिकार का जन्म हुआ जिसका ऊपर वर्णन किया गया है।

एंगेल्स ने जर्मन-रोम-संघर्ष और यूरोपीय सामन्तवादी संस्कृति की जो व्याख्या की है, और बर्बरता के उत्थान का जो ऐतिहासिक सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, वह बहुत कुछ अरब-ईरान-संघर्ष, इस्लामी संस्कृति और अरबों के उत्थान में भी दर्शित होता है। कुछ अर्थों में तो हम यह भी कह सकते हैं कि इस्लाम-पूर्व अरब जर्मनों से कहीं अधिक बर्बरता की अवस्था में थे। मैं 'बर्बरता' का प्रयोग उसी अर्थ में कर रहा हूँ जिस अर्थ में एंगेल्स ने प्रयुक्त किया। मुहम्मद के आगमन के समय, ईरान अपनी संस्कृति और सभ्यता के चरम पुष्प इतिहास को अर्पित कर चुका था और अब लगभग उसी अवस्था में था जिसमें ईसा की चौथी शताब्दी में पतनोन्मुख रोम था। पश्चिमी एशिया की फ़ौजी और भौतिक शक्ति अरबों के फ़ौजी वर्ग के हाथ में आयी, लेकिन ईरान की उच्च सांस्कृतिक परम्परा के रहते अरब के लिए पश्चिमी एशिया का नेतृत्व करना असम्भव था। फलतः बगदाद और अदन की सभ्यता पारसियों की संस्कृति के मूलोच्छेदन पर कायम हुई। यहाँ भी हम उन्हीं कारणों से धर्म और धार्मिक वर्ग के एकाधिकार को कला और साहित्य पर देखते हैं। बल्कि प्रारम्भिक इस्लाम तो कला और साहित्य का इतना जबर्दस्त दुश्मन होकर आया कि कविता, मूर्तिकला, संगीत आदि तो बिल्कुल अवैध घोषित हो गयीं।

इस टोटैलिटेरियनिज्म—धर्म का जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एकमात्र, निरंकुश एवं व्यापक अधिकार का परिणाम साहित्य और कला पर क्या पड़ा? यूरोपीय सामन्तवाद का युग सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी अन्धकार का युग कहलाता है। ग्रीस और रोम की साहित्यिक परम्परा, जिससे ही १५वीं शताब्दी के बाद सम्पूर्ण यूरोप और फलस्वरूप दुनिया को गति मिलने वाली थी, लुप्तप्राय हो गयी। कठोर धर्म और धार्मिक वर्ग के दास हो जाने के कारण कविता, और गद्य, सभी धर्म के लिए प्रचार का साधन मात्र रह

गये। प्रथम ३०० वर्षों तक तो नाटक की परम्परा ही समाप्तप्राय रही, क्योंकि चर्च अभिनय को पसन्द नहीं करता था। तेरहवीं शताब्दी तक आते-आते एक प्रकार के जन-नाट्य का उदय हुआ। परन्तु ये जन-नाट्य भी केवल ईसा मसीह और संतों के जीवन के आधिकारिक उद्धरण मात्र रहते थे। उन पर पादरियों की सख्त पहरेदारी रहती थी ताकि स्वीकृत धर्म के विरुद्ध कोई भी भावना उनमें न आ जाय। संगीत, शिल्प आदि जो कुछ भी थोड़ा-बहुत था, वह चर्च के भीतर सीमित हो गया और धर्म की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन भर रह गया। इसी प्रकार अरब और उसके द्वारा विजित सभाओं का भी हाल हुआ। यह कहना गलत होगा कि सामन्तवाद के निर्माता, मध्य-कालीन साम्राज्यों के विस्तारक इन टोटैलिटेरियन वर्गों ने केवल विनाश का ही कार्य किया, निर्माण कुछ नहीं किया। परन्तु वह निर्माण आर्थिक एवं समाज-संघटन आदि अन्य क्षेत्रों में है। साहित्य के क्षेत्रों में वे नेतृत्व नहीं दे सके क्योंकि साहित्य के निर्माण के लिए जो ऐतिहासिक उदारता अपेक्षित है, वह उनके लिए सम्भव नहीं थी। और इसीलिए प्रारम्भिक ग्रीस, रोम, ईरान के दास-स्वामी-वर्ग ने वह कुछ कर दिखलाया जो मध्यकालीन ईसाई या इस्लाम नहीं कर सकता था।

इस्लाम के अन्तर्गत ईरानी साहित्य की गति को हम दो युगों में बाँट सकते हैं। एक तो अरबों के उदयकाल में ख़लीफ़ाओं का युग जबकि धार्मिक वर्ग का विशेष प्रभुत्व था। प्रारम्भ की इन चार शताब्दियों तथा हम साहित्य-निर्माण का कार्य लगभग शून्य पाते हैं। सातवीं शताब्दी से लेकर दसवीं शताब्दी के अन्त तक जो कुछ भी थोड़ी-बहुत शायरी हुई है, वह केवल ईश्वर या मुहम्मद की प्रशंसा तक सीमित है और इसे भी कुरानी परम्परा के अनुकूल ही रखना पड़ता था। अतएव इसमें अधिक मौलिकता की गुंजायश नहीं थी। धर्म के अन्तर्गत ही सही, लेकिन यदि कोई अधिकृत व्याख्या के अतिरिक्त किन्हीं अन्य विचारों का समावेश अपने काव्य में करने का साहस भी करता तो उसका परिणाम भी वही होता जो 'अनलहक़' कहने वाले मन्सूर का हुआ।

इस्लामी साहित्य का दूसरा युग दसवीं शताब्दी और उसके बाद का है। एंगेल्स ने जर्मनों द्वारा स्थापित योरोपीय सामन्तवाद की चर्चा करते समय यह दिखलाया है कि पतनोन्मुख रोमन सभ्यता की तुलना में सामन्तशाही में जो अधिक लोकवादिता आयी, और दासों को अर्द्ध-दासता की अवस्था प्राप्त हुई, इस सुधार का आधार जर्मनों की वही बर्बरता थी जो आदिम समाज से निकट होने के कारण ही दास-स्वामी समाज से अधिक प्रजातांत्रिक होती है। हम

पहले संकेत कर चुके हैं कि अरबों की अवस्था जर्मनों की बर्बरता की अपेक्षा अधिक पिछड़ी हुई थी। अन्य कारणों के साथ, जिनका विस्तृत उल्लेख करने की यहाँ कोई जरूरत नहीं है, यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण है जिसके फल-स्वरूप इस्लामी सामन्तवाद यूरोपीय सामन्तवाद से कहीं अधिक प्रजातान्त्रिक रहा। एंगेल्स का वही सिद्धान्त इस्लामी और यूरोपीय सामन्तवाद की आन्तरिक भिन्नताओं को स्पष्ट करता है। इस्लाम की प्रजातांत्रिक चेतना के कारण ही मौलवी-वर्ग और चर्च की वह सुगठित सामन्तशाही न स्थापित हो सकी जैसी यूरोप में सम्भव हुई। दूसरे, इस्लाम की दूसरी ही शताब्दी में इस्लाम में वह विद्रोह और विस्फोट प्रारम्भ हो गया जो ईसाई धर्म में पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में हुआ। इस्लाम उमैय्यद और अब्बासी खलीफाओं के बाद ही दो शिविरों में बँट गया। पुरानी परम्परा वाले सुन्नी कहलाये और अली के अनुगतों ने शिया सम्प्रदाय की स्थापना की। शिया सम्प्रदाय का अधिक प्रसार ईरान में हुआ जिसके लिए यह नया सम्प्रदाय अरब की दासता से मुक्ति, या कम-से-कम उसके विरुद्ध विद्रोह का संदेश लेकर आया। इस प्रकार एक बार फिर ईरान को सांस्कृतिक नेतृत्व का अवसर मिला। धार्मिक टोटैलिटेरियनिज्म को चुनौती मिली और साहित्य और कला का अवरुद्ध स्रोत फूटा।

इस प्रकार दसवीं शताब्दी से ईरान के नेतृत्व में इस्लाम के साहित्यिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण का युग प्रारम्भ होता है। जो काम एकाधिकार में बँधा हुआ अरब नहीं कर सका, वह विद्रोही ईरान ने किया। इस नये युग के प्रारम्भिक दो कवियों का उल्लेख करना आवश्यक है। एक फिरदौसी और दूसरे अबूसैद अबू खैर। ये दोनों ही महमूद गजनवी के समकालीन थे। फिरदौसी का शाहनामा विश्वविदित है। विशेष रूप से ध्यान में रखने की बात यह है कि कट्टर मुसलमान महमूद ग़ज़नवी द्वारा प्रेरित और पोषित ईरानी साहित्य की विशाल धारा का यह पहला निर्झर, ईरान की राष्ट्रीयता का गौरव और उठते हुए ईरान के उल्लास और उत्साह का यह महाकाव्य ईरान के उन पुराने वीरों का इतिहास है जब इस्लाम का कहीं नाम-निशान भी नहीं था। यह तो नहीं कहा जा सकता कि शाहनामा पर तत्कालीन इस्लामी दर्शन का कोई प्रभाव नहीं है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शाहनामा आधिकारिक इस्लाम-दर्शन के एकाधिकार से मुक्त है। उसकी प्रेरणा का स्रोत बिल्कुल दूसरा है। आखिर क्या कारण है कि जब यूरोप में चर्च का और अरब की प्रथम चार शताब्दियों में इस्लाम धर्म का समस्त कला और साहित्य

पर सम्पूर्ण और निरंकुश शासन था, तब शाहनामा जैसा शाहकार नहीं लिखा जा सका ?

ईरान के इस्लामी साहित्य की एक प्रमुख धारा सूफी साहित्य है जिसके उन्नायक अबूसैद अबू खैर हैं। यद्यपि सूफी मत साधारण धार्मिक भावना की ही एक धारा है, और शाहनामा की तरह धर्मनिरपेक्ष नही है, परन्तु मुख्यतः वह स्वीकृत इस्लाम धर्म से भिन्न है। विद्वानों का कहना है कि इस्लाम की दूसरी शताब्दी मे ही सूफीवाद के अंकुर निकलने प्रारम्भ हो गये थे। ठीक है, परन्तु यह सूफीवाद उच्च साहित्य-रचना का आधार दो सौ वर्षों तक नही बन सका क्योंकि मौलवियों का सास्कृतिक एकाधिकार दसवी शताब्दी तक अच्छी तरह नही टूट सका था। नये ईरान मे यह एकाधिकार नही था। इसलिए अबूसैद अबू खैर सूफीवाद के युगनिर्माता थे। उनकी रुबाइयों में नये स्वर निकले। मौलवियों ने उनको ओर सन्देह की दृष्टि से देखा, बाद में उनके विचारो को इस्लाम-विरोधी भी कहा गया और उनके विरुद्ध बहुत प्रचार किया गया। लेकिन तब तक मौलवियों की तानाशाही समाप्त हो चुकी थी और वे अबूसैद अबू खैर को उस अंजाम तक नही पहुँचा सकते थे जहाँ उन्होने मंसूर को पहुँचाया था। इस तरह सारा फ़ारसी साहित्य मौलवी, शेख और धार्मिक महन्तो के विरुद्ध व्यंग्य, परिहास, उपहास, रोष, विद्रोह से भरा पड़ा है। साहित्य और साहित्यकार को जब एक निश्चित विश्व-दर्शन के चंगुल से छुटकारा मिला और वह मुक्त होकर उसी दर्शन या किसी अन्य दर्शन का साक्षात्कार जनजीवन में अपनी चेतना से कर सका, तभी उसका विकास सम्भव हो सका। यूरोप के सामन्त-काल मे, या इस्लाम में प्रथम चार सौ वर्षों मे, जब चारों ओर सेन्सर का राज्य था, रोंद की, फ़िरदौसी, मौलाना रूम, हाफ़िज, उमरखैय्याम की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

पन्द्रवी शताब्दी में यूरोप मे एक नयी धारा बही। एक नये युग के अंकुर फूटे। इसे रिनेसेन्स या पुनर्जागरण का काल कहते है। इसके फलस्वरूप कई शताब्दियों का लम्बा अन्धकार-काल समाप्त हुआ और हम देखते हैं कि कुछ ही वर्षों के अन्दर इटली, फ्रांस और इंग्लैण्ड के नेतृत्व मे एक ऐसी नयी संस्कृति, नये साहित्य और कला का निर्माण हुआ जो मात्रा और गुण दोनों ही में मध्यकालीन वातावरण से बिलकुल भिन्न है। इस नये प्रकाश का वाहक था उठता हुआ मध्यम वर्ग जिसने सामन्त युग का विनाश किया, राष्ट्रीयता को जन्म दिया और पूँजीवाद की स्थापना की। इस नये मध्यम वर्ग ने विश्व-दर्शन, सास्कृतिक मूल्यो, और साहित्य तथा कला के क्षेत्र में ऐसी उथल-पुथल

मचायी कि पुरानी परम्पराओं और मान्यताओं का सारा महल ढह गया।

पहले जब जर्मन सामन्तवाद ने रोमन सभ्यता का विनाश किया था, तो उस समय भी एक सामाजिक क्रान्ति हुई थी। समाज का आधिपत्य एक नये वर्ग के हाथ में गया था। और अन्य वर्गों की अवस्था में भी परिवर्तन हुए थे। जैसा हम पहले कह चुके है कि प्रत्येक अधिकारी वर्ग अपने आधिपत्य को बनाये रखने के लिए विशेष विश्व-दर्शन को जन्म देता है। इस विश्व-दर्शन का स्वरूप एकाधिकारमूलक (टोटेलिटेरियन) या उदारतामूलक होता है। यह स्वरूप विजित वर्ग की अपेक्षा, विजेता वर्ग की सास्कृतिक स्थिति पर बहुत कुछ निर्भर करता है। दास-स्वामी समाज की तरह सामन्तवादी समाज को भी अपने विश्व-दर्शन को धर्म का ही स्वरूप देना पड़ा क्योंकि तार्किक जिज्ञासा तब तक बहुत पिछड़ी हुई थी।

परन्तु पूँजीवादी मध्यम वर्ग ने विश्व के इतिहास में धर्म—और उसके मूल आधार श्रद्धा और विश्वास को पहली बार सच्चे अर्थों में चुनौती दी। विचारो का जो यह नया संघर्ष शुरू हुआ, वह केवल रूढ़िग्रस्त धार्मिक परम्पराओ को अधिक उदार बनाने के लिए ही नहीं था, धर्म में संशोधन कर शिया और सुन्नी सम्प्रदाय स्थापित करने का ही नही था, बल्कि स्वयम् धर्म को उसके सार्वभौम उच्चासन से हटाकर उसकी जगह पर एक दूसरे दर्शन को स्थापित करने के लिए था। ज्ञान का यह नया आधार था भौतिक विज्ञान और तार्किक जिज्ञासा। सोलहवीं शताब्दी तक विज्ञान ने इतनी उन्नति कर ली थी कि वह एक रेखाचित्र की भाँति विश्व को एक नया दर्शन दे सकता था जो तर्क और बुद्धिगम्य हो और जिसे स्वीकार करने के लिए पोप और पादरियों की मुहर की जरूरत न पड़े। गैलीलियो को पादरियों ने मरवा डाला, परन्तु गैलीलियो ही नये युग की भावना का प्रतीक बना। विज्ञान और उसके अनुसन्धानों ने इस तरह मध्यम वर्ग के हाथ में न केवल उत्पादन के नये साधन दिये जिससे वे समाज के अन्य वर्गों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सकें, बल्कि एक विश्व-दर्शन भी दिया जिससे वे धर्म की सांस्कृतिक दासता से मुक्त हो सकें।

इस प्रकार पूँजीवादी वर्ग के लिए राज्य और शासन की सत्ता के लिए ईश्वर-प्रदत्त अधिकारों की आवश्यकता नहीं रह गयी और राज्य एवं शासन के लिए एक अलग विज्ञान-शास्त्र की उत्पत्ति हुई जिसका नाम राजनीति है। इस नये विज्ञान की आधारशिलाएं तर्क, बौद्धिक अनुभव और सामाजिक आवश्यकता थी। नवयुग के प्रथम राजनीतिशास्त्री मैकियावेल्ही ने राज्य की सत्ता को सर्वोपरि घोषित करते हुए चर्च के लुप्तप्राय अधिकारों का फ़ातिहा

पढ डाला। धीरे-धीरे राजनीति और राजनीतिक आवश्यकताओं ने अपना एक अलग अस्तित्व बना लिया।

सांस्कृतिक दृष्टि से नया पूँजीवादी मध्यम वर्ग अपनी ऐतिहासिक ज़िम्मेदारी को निभाने के लिए अच्छी तरह समर्थ था क्योंकि उसके तर्क और बुद्धि के अस्त्र स्वभावतः रूढ़ियों और पुरातन विश्वासों की अपील से कही ज्यादा मजबूत पड़ते थे। खास तौर से उस समय जब इन रूढ़ियो की दुहाई देने वाले वर्ग की ताक़त टूट चुकी हो और वह समाज के नेतृत्व से च्युत हो चुका हो। पूँजीवाद मुक्त प्रतियोगिता का वाद है। इसी मुक्त प्रतियोगिता के बल पर उसने सामन्तों को भी परास्त किया और इसी के बल पर उसने सामन्तवादी मूल्यों को भी स्थानच्युत किया। अतएव स्पष्ट है कि पूँजीवाद के लिए उस सांस्कृतिक एकाधिकार वाद की कोई ज़रूरत नही थी जो जर्मन या अरब बर्बरों के लिए अनिवार्य थी।

इसके अतिरिक्त एक बात और है। यद्यपि तर्क की नयी लहर ने धार्मिक विश्वासो की जड़ इस तरह हिला दी थी कि उसका स्वामित्व हमेशा के लिए समाप्त हो गया, लेकिन धर्म द्वारा प्रचारित विश्व-दर्शन का स्थान लेने के लिए उतना ही विशद और असंदिग्ध विश्व-दर्शन देने की सामर्थ्य अभी विज्ञान मे नही हुई थी। सत्य तो यह है कि धर्म और धार्मिक भावना तब तक पूर्णरूपेण समाज से विनष्ट नही हो सकती जब तक वर्ग-संघर्ष समाज मे चलेगा। कारण यह है कि शुद्ध वैज्ञानिक मानवीय दर्शन अपने तार्किक सामञ्जस्य के कारण वर्गहीन समाज का ही दर्शन होगा। अतएव एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण, और समाज मे चलने वाले द्वन्द्व का सामञ्जस्य कोई भी तार्किक सिद्धान्त या सांस्कृतिक मूल्य नहीं कर सकते। वर्ग-समाज वर्ग-मूल्यों को ही जन्म देगा। और चूँकि वर्ग-मूल्य समस्त समाज को निर्द्वन्द्व आत्मसात् नही कर सकते, अतएव अपने अन्तिम रूप में वे कभी भी तार्किक या बुद्धिवादी नही हो सकते। इस द्वन्द्व को न्यायपूर्ण सिद्ध करने या इससे पलायन करने, दोनों ही के लिए बुद्धिविरोधी प्रवृत्तियों का सहारा लेना पड़ेगा। इससे स्पष्ट हो जायगा कि पूँजीवाद क्यो धर्म को समाज से समूल नष्ट नही कर सकता, यद्यपि वह उसे चुनौती दे सकता और कमज़ोर कर सकता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि क्यों पूँजीवाद के दार्शनिक बुद्धि का सहारा लेकर चलते हुए भी अन्त मे अनिवार्यतः रहस्यवादी और ईश्वरवादी या धर्मवादी हो जाते हैं।

अस्तु, विज्ञान ने धर्म के मुकाबले में उतना ही पूर्ण दर्शन पुनर्जागरण के

समय में प्रस्तुत नहीं किया, परन्तु रेखाचित्र अवश्य प्रस्तुत कर दिया। इस रेखाचित्र में इतनी सम्भावनाएँ थीं कि समस्त वैज्ञानिक और विचारक एक बार आशा और उत्साह से आन्दोलित हो उठे। जिसे जहाँ समझ में आया, अपनी बुद्धि के अनुरूप चारों ओर दौड़ पड़ा उन रंगों को खोजने और अपनी तालिका में प्रयोग करने के लिए जिनसे पूरा चित्र तैयार हो सके। चूंकि खाली जगह बहुत पड़ी थी, अतएव कहीं कोई रोक नहीं थी। ग्रीस-रोम एक बार फिर जीवित हुए। अनुसन्धान और आलोचना की धूम मची।

अतः संस्कृति और विचारधारा के क्षेत्र में उठते हुए पूंजीवादी मध्यम वर्ग ने जिन मूल्यों को प्रतिष्ठापित किया, वे संक्षेप में ये हैं। एक, धर्म की जगह ज्ञान की तर्कपूर्ण और बुद्धिवादी धारा ने ले ली। अधिकारी वर्ग के शासन का शास्त्र अब धर्म न होकर राजनीतिशास्त्र हो गया। दूसरे, विचारों की स्वतन्त्रता और उनकी मुक्त प्रतियोगिता का दौर शुरू हुआ। टोटैलिटेरियन सेन्सर का पतन हुआ। तीसरे, अनुसन्धान, आलोचना और अन्वेषण की प्रवृत्ति जागरित हुई। चौथे, कोई ऐसा निर्विवाद विश्व-दर्शन या शास्त्र न रह गया जो विचारों की समस्त धाराओं को आत्मसात् कर ले। अतएव इस युग के मूल्य का मापदण्ड केवल व्यक्तिवाद ही है। सब मिलाकर पूंजीवाद को अपने उज्ज्वल भविष्य और सांस्कृतिक उत्तमता में इतना अधिक आत्मविश्वास था कि उसके लिए टोटैलिटेरिमनिज्म की आवश्यकता नहीं रह गयी।

इन मूल्यों के चलते साहित्य को जो सर्वमुखी उन्नति हुई, उसका विस्तृत विश्लेषण करने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं जान पड़ती। पूंजीवादी यूरोप की विश्व-साहित्य में जो देन है, वह हमारे लिए निकट की चीज है। मध्यमवर्गीय प्रजातन्त्र और प्रजातांत्रिक भावना के साथ साहित्य के इस विस्तार को देखकर, अवश्य ही तुलना में यूनानी प्रजातन्त्र और ईरान के उदार युग की साहित्यिक प्रगति, और विरोधाभास-स्वरूप मध्यकाल का समस्त अन्धकार याद आ जाता है। हम यहाँ धर्म को चुनौती देने वाली उस नयी शक्ति की चर्चा करेंगे जिसे हमने राजनीति कहा है और जो धीरे-धीरे विज्ञान की सहायता से अपना एक पूर्ण विश्व-दर्शन प्राप्त करने का प्रयास करती रही है।

सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक, पूंजीवाद के प्रारम्भिक युग में अंग्रेजी साहित्य राजनीति या उसकी आवश्यकताओं से अधिकतर मुक्त रहा है। इसका अर्थ है कि बुर्जुआ वर्ग का वह भाग जो राजनीति के सीधे सम्पर्क में

था, तब तक उस वर्ग की आशाओं का प्रधान केन्द्र नही बना था। वे व्यक्तिवादी मूल्य, जिन पर समस्त बुर्जुआ संस्कृति के उत्तम-से-उत्तम रूप आधारित हैं, *जीवन के अन्य स्रोतों मे भी प्रतिष्ठित होते रहे। साहित्य के इतिहासकारों* के लिए शेक्सपीयर की राजनीतिक या सामाजिक धारणाएँ अभी भी रहस्य और विवाद का विषय बनी हुई हैं। यह बात केवल शेक्सपीयर के ही सम्बन्ध में नही, बल्कि कम-बेश एलिजबेथ और उसके बाद के काल के सभी साहित्यों पर लागू होती है। शायद एक बेकन को छोड़कर—यद्यपि मैं नही समझता कि बेकन ने भी अपनी साहित्यिक रचनाओ को सीधे राजनीतिक आवश्यकताओं के लिए प्रयोग किया। परन्तु इतना निर्विवाद है कि कई दृष्टिकोणो से सोलहवी शताब्दी के उत्तरार्ध और सत्रहवीं का पूर्वार्ध इंग्लैण्ड के साहित्यिक इतिहास-रचना, कलात्मक कल्पना और पथ-प्रदर्शन का सबसे महान् युग है।

लेकिन पूँजीवाद के विस्तार के साथ समाज में राज्य और उसकी सत्ता को धारण करने वालों का प्रभुत्व बढ़ना आवश्यक है। सामन्तशाही के अन्तर्गत पुरोहितो का एक विशेष अभिजात वर्ग सांस्कृतिक नेतृत्व के लिए अलग होता है और जैसा हमने देखा कि प्रारम्भ मे यह वर्ग राजसत्ताधारी आभिजात्यों से अधिक प्रभावशाली था। बाद में धीरे-धीरे राजसत्ताधारी पुरोहितो के ऊपर हावी हो गये और 'जैसा राजा वैसा धर्म' का सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ। पूँजीवाद के अन्तर्गत पूँजीपति-वर्ग स्वयम् सीधे-सीधे अपने हाथ मे सत्ता ग्रहण नही करता, जैसा सामन्तो ने *किया, बल्कि* इस कार्य के लिए वह अपने ही वर्ग के विद्वानो का एक समूह 'बुद्धि-जीवियों' का पोषण करता है। इस समूह पर पूँजीपतियो की ओर से राज का भार सँभालने और सास्कृतिक नेतृत्व करने, दोनो कार्यों का भार पड़ता है। इस प्रकार एक ही समूह के अन्तर्गत होने के कारण राजनीति और साहित्य के परस्पर संबद्ध हो जाने के बीज पूँजीवादी वर्ग-व्यवस्था के अन्तर्गत ही मौजूद हैं। *यह सम्बन्ध किस अंश तक किस स्वरूप में होगा, यह पूँजीवादी व्यवस्था के क्रमिक* विकास पर निर्भर है। जैसे-जैसे *राज्य का क्षेत्र व्यापक होता गया,* राजनीतिक आवश्यकताएँ विचार और दर्शन की अन्य शैलियों पर छाती गयी, और सांस्कृतिक नेतृत्व राज के केन्द्र की ओर खिचता गया।

मिल्टन (सत्रहवीं *शताब्दी,* उत्तरार्ध) इग्लैण्ड का *पहला महत्त्वपूर्ण* साहित्यिक है जिसने तत्कालीन दलगत राजनीति में क्रियाशील भाग लिया। कुछ आलोचकों का कहना है कि मिल्टन ने वह सब केवल एक दल को दे डाला जो मानवता के लिए अभीष्ट था। फिर भी यह सत्य है कि मिल्टन

की रचनाओं का एक बड़ा भाग ऐसा है जो राजनीतिक आवश्यकताओं द्वारा सीधे-सीधे नियमित नही है। एलिजबेथ के समय के साहित्यकारों की तरह मुख्यतः उसकी रचनाओं का उद्देश्य राजनीतिक प्रचार की जगह मध्यम वर्ग के मानवीय मूल्यों पर जोर देना ज्यादा है।

इसके विपरीत अठारहवी शताब्दी का साहित्य ड्राइडन से लेकर जान्सन तक तत्कालीन राजनीतिक प्रचार और उसकी दलबन्दियों से सीधा जुड़ा हुआ है। 'सारा राष्ट्र जैसे दो दलों में विभक्त हो गया था। लगभग सभी लेखक ख़रीदे जा सकते थे। कुछ एक अपवादों को छोड़कर अच्छे-से-अच्छे लेखक भी किसी-न-किसी राजनीतिक दल के आर्थिक संरक्षण में थे। साहित्य राजनीति और कूटनीति का सेवक बन गया'। (वायट—अंग्रेजी साहित्य का इतिहास)। गद्य को पत्रकारिता से, जिसका उदय उसी समय हुआ था, विशेष बल प्राप्त हुआ। और पत्रकारिता साहित्य का वह अंग है जो राजनीति के सबसे निकट है। इसके अतिरिक्त काव्य में भी राजनीतिक व्यंग्य का प्राधान्य रहा।

उन्नीसवीं शताब्दी में एक तरफ़ फ्रान्स की क्रान्ति और दूसरी तरफ पूँजीवादी वर्ग के भीतर विरोधाभास की सम्भावनाओं के उदय, और मजदूर-वर्ग के प्राथमिक आन्दोलन के साथ हम बुर्जुआ साहित्य और राजनीति में कुछ परिवर्तन पाते हैं। फ्रान्स की क्रान्ति ने यूरोप के मध्यम वर्ग को फिर आदर्शों से आन्दोलित कर दिया, दूसरी ओर इंग्लैण्ड में पूँजीवाद के आर्थिक दुष्परिणामों ने बहुतों को चिन्तित भी किया। इन दो कारणों से मध्यमवर्गीय व्यक्तिवादी मूल्यों के ऊपर जोर अधिक बढ़ गया और अठारहवी शताब्दी की दलगत साहित्यिक धारा कुछ मन्द पड़ गयी। रोमांटिक कवियों को एलिजबेथ-युगीन साहित्य अधिक निकट मालूम पड़ने लगा। लेकिन यह ध्यान देने योग्य है कि उन्नीसवी शताब्दी का रोमांटिक साहित्य दार्शनिक मूल्यों पर जोर देने के बावजूद भी एलिजबेथ-युगीन प्रारम्भिक पूँजीवादी साहित्य की तरह राजनीति से असंपृक्त नहीं है। वर्ड्सवर्थ, शेली, बायरन, आदि समस्त साहित्यिक अपने युग के क्रियाशील क्रान्तिकारियों में से रहे हैं। वायवी वातावरण में विचरण करने वाला शेली भी मुख्यतः अपने को राजनीतिक कार्यकर्ता ही समझता है। फ्रान्स और जर्मनी के रोमांटिक साहित्यकारों के ऊपर रूसो और हेगेल की सीधी छाप है जो मुख्यतः राजनीतिक समस्याओ के दार्शनिक है। बल्कि फ्रान्स और जर्मनी के रोमांटिक साहित्यकार तो तत्कालीन राजनीतिक दलों के साथ-साथ चलने वाले रहे हैं। राज्य

का विस्तार समाज पर कुछ इस तरह हो गया था कि उन्नीसवीं शताब्दी के साहित्यकारों के लिए उसे भूलाकर एलिजबेथ के युग की पुनरावृत्ति करना असम्भव था।

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध पूंजीवाद के आन्तरिक संकट का युग है। पूंजीवाद के भीतर छिपे हुए विरोधाभास ने धीरे-धीरे उत्कट रूप धारण किया और स्वयम् मध्यम वर्ग की पुरानी सत्ता को चुनौती देने के लिए मजदूरों के नेतृत्व में नयी शक्तियों का उदय हो गया। शासक वर्ग की राजनीति का आदर्श और उसकी प्रेरक स्फूर्ति बदल कर अपने दमनात्मक और प्रतिक्रियावादी स्वरूप में दिखलायी पड़ने लगी। यूरोपीय पूंजीवादी के लिए तो साम्राज्यवाद के अतिरिक्त जीवित रहने का और कोई साधन ही नहीं रह गया। दूसरी ओर वे ही स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व के मानव-मूल्य मजदूरों द्वारा घोषित किये जाने पर स्वयम् मध्यमवर्ग के अस्तित्व के लिए ख़तरा बन गये।

इंग्लैण्ड के पूंजीवादी युग के लम्बे युग पर विहंगम दृष्टि डालने पर दो बातें दिखायी पड़ती है। एक, धर्म का स्थान धीरे-धीरे राजनीति ने ले लिया और जैसे-जैसे समय बीतता गया, समाज और विज्ञान की वृद्धि होती गयी तथा राजनीति का विस्तार अधिक होता गया। दूसरे, राजनीति और साहित्य का सम्बन्ध स्वतन्त्र प्रभाव का सम्बन्ध रहा है। कभी भी वह मध्यकाल की भांति टोटैलिटेरियन नहीं रहा है। और ग्रीस तथा ईरान की कला-स्वतन्त्रता को ध्यान में रखने के बाद यह परिणाम निकलता है कि कला और साहित्य में कुछ ऐसा तत्त्व है जो एकाधिकार से कुंठित हो जाता है और साहित्य के स्वरूप, शैली और उसके सांस्कृतिक स्तर के विकास और उत्कर्ष के लिए स्वतन्त्र और स्वानुभय का वातावरण बहुत ही अधिक मोजूं है।

१९२३ के बाद रूस के कम्युनिज्म और इटली तथा जर्मनी के फ़ाशिज्म ने सहसा साहित्य और राजनीति के धीरे-धीरे बढ़ते हुए स्वतन्त्र सम्बन्ध को आन्दोलित कर दिया और एक नये प्रकार के सम्बन्ध की घोषणा की। हमारी आंखों के सामने मध्यकालीन टोटैलिटेरियन स्वरूप की पुनरावृत्ति-सी होती हुई दिखलायी पड़ी।

फ़ाशिज्म ने कभी अपने को केवल एक राजनीतिक कार्यक्रम नहीं कहा। बल्कि फ़ाशिस्ट अपने को मुख्यतः एक सांस्कृतिक आन्दोलनकारी ही कहते रहे। इस सांस्कृतिक उत्थान का माध्यम राज माना गया। एक दल खड़ा हुआ जिसने अपनी आवश्यकताओं को राज की और राज की आवश्यकताओं

को समस्त राष्ट्र की आवश्यकता घोषित किया। और इसके पीछे वही मध्ययुगीन ईसाई चर्च की तरह अपने पक्ष में अखण्ड विश्वास और किंचित् विरोध को भी न बरदाश्त करने की भावना थी। डॉ० गोयबेल्स ने कहा, "चूंकि हम नेशनल सोशलिस्टों का विश्वास है कि जो कुछ हम कहते है, वही पक्ष ठीक है, अतएव हम किसी ऐसे दूसरे को बरदाश्त नही कर सकते है जो अपने को ठीक कहता हो। क्योंकि यदि दूसरा भी ठीक है तो वह अवश्य नेशनल सोशलिस्ट होगा और यदि वह नेशनल सोशलिस्ट नही है तो सीधी बात है कि वह ठीक नहीं हो सकता।"

हमने ऊपर संकेत किया है कि पूंजीवाद के आन्तरिक संकट के कारण कला का मानवीय पक्ष स्वभावतः शोषक वर्ग का विरोधी हो गया। अतएव जिस प्रकार पूंजीवाद ने अपनी ढहती हुई इमारत को फ़ाशिज्म के जरिये बचाने की कोशिश की, उसी प्रकार उसने कला और साहित्य को राजनीति की दासी बनाकर उसकी मानवोचित आत्मा का हनन करने की ठानी। साहित्य केवल पत्रकारिता या प्रचार का ही दूसरा नाम रह गया। अठारहवीं शताब्दी के इंग्लैण्ड में भी साहित्य राजनीति का सेवक बना था। लेकिन उस समय यह सम्बन्ध टोटैलिटेरियन नहीं था, इसीलिए विचारों और अनुभवों की गहराई मे तो उस काल के कलाकार नही जा सके, लेकिन कम-से-कम उन्होंने कला के एक पक्ष—उसकी शैली और स्वरूप को बहुत निखारा। लेकिन फाशिज्म ने विचारों में तो साहित्य को अवरुद्ध किया ही, साथ ही साथ उसके स्वरूप को भी इतना बिगाड़ा कि स्वयम् पूंजीवादी कला की सारी परम्परा जैसे लुप्त हो गयी।

राजनीतिक तानाशाही का दूसरा रूप सोवियत रूस में दिखलायी पड़ता है। अन्वेषण के एक विभाग, भाषाविज्ञान की दशा देखिये।

"सोवियत रूस में भाषाविज्ञान के क्षेत्र में भी तथाकथित नयी शिक्षा योजना की हल्की से हल्की आलोचना करने वालों को 'उत्पीड़न का शिकार बनाया गया और भाषाविज्ञान के अधिकारी वर्ग ने आलोचना को बिल्कुल खत्म कर दिया। एन० वाई० मार की शिक्षा के प्रति जरा भी आलोचनात्मक दृष्टिकोण रखने के कारण, उसके प्रति थोड़ी भी असहमति व्यक्त करने के कारण, भाषाविज्ञान के अनुसंधान में लगे हुए बहुत से अनुभवी कार्यकर्ता तथा अन्य लोग अपने पदों से अलग कर दिये या नीचे गिराये गये। इस क्षेत्र में लोग उच्चतम पदों पर अपनी वैज्ञानिक प्रतिभा के कारण नहीं, बल्कि

एन० वाई० मार के सिद्धान्तों की बिना शर्त पुष्टि के बल पर प्रतिष्ठित किये गये हैं।'

लगता है कि ऊपर के शब्द सोवियत-विरोधी किसी अमेरिकन के लिखे हुए है। वस्तुत: ये शब्द सोवियत के भाग्य-विधाता स्टालिन के है। और यह भी किसी पुरानी दशा का चित्र नही है। यह अवस्था २० जून, १९५० के प्रावदा द्वारा प्रकाशित की गयी है और उस समय की है जब सोवियत रूस स्टालिन के शब्दों मे सोशलिज्म से काम्युनिज्म की ओर बढ़ रहा है। स्टालिन को इस पर आश्चर्य है कि वैज्ञानिकों ने सही बात के पक्ष मे अपनी आवाज तब तक नही उठायी जब तक प्रावदा की ओर से इस विषय पर बहस का निमंत्रण नही दिया गया। हमें भी आश्चर्य है कि ऐसा क्यों और क्यों कर होता है, यद्यपि हम जानते हैं कि सोवियत रूस में यह कोई ग़ैरमामूली बात नहीं है।

स्टालिन ने स्वीकार किया है कि ऐसी दशा मे विज्ञान का विकास असम्भव है। जब भाषाविज्ञान ऐसे विशुद्ध ऐतिहासिक विज्ञान के विषय में तानाशाही, एक दल और उसकी धारणाओ का एकछत्र प्रभुत्व है तो कला और साहित्य के क्षेत्र में जो सामाजिक जीवन से कही अधिक निकट है, तानाशाही और उसके दुष्परिणामों का अन्दाज लगाया जा सकता है।

जर्मन साहित्यकार और कम्युनिस्ट पार्टी के भूतपूर्व सहगामी आर्थर कोस्टर ने 'दि गाड दैट फेल्ड' में विशद वर्णनों तथा उदाहरणों द्वारा बताया है कि किस प्रकार कम्युनिस्ट पार्टी को राजनीतिक आवश्यकताओं के लिए नित्य एक फटेहाल लेखक को महान् कलाकार, और अर्से से जमे हुए साहित्यकार को शब्दों का भिखारी बनाने की क्रिया होती रहती है।

तानाशाही पर आधारित सोवियत साहित्य प्रचार का अच्छा साधन हो सकता है, सम्भवत: वह स्टालिन के भाषण या कम्युनिस्ट पार्टी की थीसिस की तरह लाखों कम्युनिस्टों को कर्मठ क्रियाशीलता के लिए भी तैयार कर सके, परन्तु उसमे वह कलात्मक सौन्दर्य कहां है जो शब्दों के एक समूह को साहित्य की संज्ञा प्रदान करता है और उसे पैदा करने वाले वर्ग की संस्कृति को मानव-इतिहास में मूल्यवान बनाता है? उत्कट शोषण पर अपना वर्ग-राज तो दास-स्वामी ग्रीकों ने भी चलाया, और सामन्तशाही जर्मनों ने भी, लेकिन जहाँ ग्रीक और रोमन संस्कृति विश्व-इतिहास में अमूल्य और मनुष्य की परम्परागत विजयों का उज्ज्वल प्रतीक है, वहाँ सामन्तशाही संस्कृति केवल अन्धकार का युग है, मूल्यहीन, प्रभावहीन।

मार्क्सवाद साहित्य और कला को वर्ग-संघर्ष में केवल प्रचार और शिक्षा का अस्त्र मात्र नही मानता, बल्कि वह उसे किसी वर्ग की कलात्मक, सौन्दर्य-वान और मानवोचित प्रवृत्तियो की सांस्कृतिक और मानसिक प्रगति का चरम प्रतिफल भी मानता है जिसके कारण मनुष्य के इतिहास में किसी वर्ग अथवा वर्गहीन समाज का मूल्य है। जिस तरह आज राजनीति से साहित्य को अलग रखने का नारा लगाने वाले मध्यमवर्गीय कलाकार प्रतिक्रिया-वादी है, उसी तरह राजनीति की तानाशाही में कैद करके समस्त साहित्य को पार्टी का अस्त्र मात्र घोषित करने वाले कला के दुश्मन है। मार्क्स साहित्य को इन दोनों संकुचित दृष्टिकोणों से अलग समझता है। वह साहित्य को केवल पार्टी नही, पूरे वर्ग के सांस्कृतिक प्रयास की उत्पत्ति मानता है। पार्टी के महत्त्व को समझते हुए भी मार्क्सवाद कभी भी पार्टी और वर्ग को एक नहीं मानता। वह साहित्य को उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में परखता है, उसके उन आन्तरिक नियमों की घोषणा करता है जिनसे आज तक वह नियमित होता आया है। और इन्ही ऐतिहासिक नियमों के आधार पर वह नयी संस्कृति के निर्माण का प्रयास करता है। जो मजदूर-किसान को जागृत करे और मनु-ष्यता के चरम उत्कर्ष का संकेत दे। मार्क्सवादी साहित्यकार किसानों-मजदूरों के संघर्ष का सचेत गायक होता है। यह उसका तात्कालिक राजनीतिक पहलू है। साथ-साथ वह जनता की कलात्मक प्रवृत्तियों का उत्थान कर नयी संस्कृति का पथ प्रशस्त करता है। यह उसका स्थायी मूल्यों पर आधारित मानवोचित पहलू है।

साहित्यकारों के सम्मुख आज यह प्रश्न है कि राजनीति और साहित्य का सम्बन्ध क्या हो? एक बार इस समस्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के स्पष्ट हो जाने पर इस प्रश्न का उत्तर भी अपने आप स्पष्ट हो जाता है। उठती हुई जनता का साहित्य अनिवार्यतः एक बड़े अंश में राजनीति से प्रभावित होगा, इसलिए कि राजनीति जनता के उत्थान का आवश्यक माध्यम है। परन्तु यह प्रभाव टोटेलिटेरियन स्वरूप नही ग्रहण करेगा क्योंकि आदिकाल से साहित्य मुक्त वातावरण में ही पुष्पित होता आया है। इसके अतिरिक्त आज जनता की शक्ति इतनी बढ़ गयी है और उसकी सांस्कृतिक चेतना, उसका विश्व-दर्शन इतना पुष्ट हो चुका है कि सहज ही वह पूंजीवादी पतनोन्मुख संस्कृति को मुक्त बौद्धिक प्रतियोगिता में ही पछाड़ सकती है, ठीक उसी तरह जैसे पूंजीवाद ने बिना साहित्यिक तानाशाही के सामन्तवादी मूल्यों को विनष्ट कर डाला।

मार्क्सवादी साहित्यकार के दो उपर्युक्त पहलुओं को ध्यान में रखते हुए

हम आज के साहित्य को दो हिस्सों में बाँट सकते हैं। एक तो वह साहित्य जो तात्कालिक और विशुद्ध राजनीतिक है। यह राजनीतिक साहित्य घोर प्रतिक्रियावादी और जनवादी दोनों प्रकार का हो सकता है। और ऐसे राजनीतिक साहित्य की ऐतिहासिक भूमिका को परखने का साधन केवल राजनीतिक दृष्टिकोण हो सकता है।

परन्तु तात्कालिक राजनीतिक साहित्य के अतिरिक्त एक बड़ा हिस्सा ऐसा भी है जो कला और संस्कृति के अन्य मूल्यों पर अधिक महत्त्व देता है। किसी भी वर्ग के साहित्य की रचना में केवल अपने तात्कालिक संघर्ष या राजनीतिक उत्थान-पतन पर ही जोर नहीं दिया गया। इतिहास साक्षी है कि राजनीति के अतिरिक्त अपने वर्ग की कलात्मक और मानवीय दृष्टि को भी पुष्ट करना वर्ग-साहित्य की बड़ी जिम्मेदारी रही है। जो आलोचक मार्क्सवाद के नाम पर साहित्य के प्रत्येक उतार-चढ़ाव को तात्कालिक राजनीतिक या आर्थिक परिस्थिति से ही सम्बद्ध करते हैं, वे मार्क्सवाद को यांत्रिक बनाकर उसे बिगाड़ते है। वे इसे भूल जाते हैं कि साहित्य के विकास के अपने भी नियम हैं जिन पर उसका कलात्मक पहलू बहुत कुछ आधारित होता है।

पार्टी और साहित्यकार मे स्वतन्त्र या प्रजातान्त्रिक सम्बन्ध रहने पर अवश्य ही यह पहलू विकसित होगा। ऐसे साहित्य की आलोचना का आधार पार्टी द्वारा किये जाने वाले वर्ग-संघर्ष की सामरिक अवस्था न होकर विश्व-इतिहास मे जनता की नयी ऐतिहासिक भूमिका होगी। पहली कसौटी यदि राजनीतिक है तो दूसरी कसौटी मानव-मूल्यों की है। आचार्य नरेन्द्रदेव के शब्दों में, "भारतवर्ष की नयी संस्कृति के साहित्यकार के सामने ये मूल्य है—लोकतन्त्र, अन्तर्राष्ट्रीयता और सामाजिक प्रगति।" इटली के समाजवादी नेता इग्नेजियो सिलोन के शब्दों में, "सिद्धान्तों के बल पर हम सम्प्रदाय स्थापित कर सकते है, परन्तु मूल्यों के आधार पर हम संस्कृति का निर्माण कर सकते हैं। लोकतान्त्रिक समाजवाद इस ऐतिहासिक अनुभव को भुलाकर उत्कृष्ट साहित्य की रचना नहीं कर सकता।"

□□

राजनीति में साहित्यकार : एक साक्षात्कार

क्या आपको बौद्धिक प्रकार के शास्त्रीय अध्ययन और चिन्तन से सन्तोष नहीं मिलता ? आपके मजदूर कार्यकर्ता होने में और शुद्ध बौद्धिक होने में क्या कोई अन्तर्विरोध नही है ?

"नहीं ! सारी बौद्धिक जिज्ञासा का तान यहीं टूटता है कि वैचारिक और व्यावहारिक आचरण में सामंजस्य कैसे स्थापित किया जाये। हर जागरूक बुद्धिजीवी को हमेशा इस खतरे से बचना चाहिए कि वह केवल हाथी के दाँत वाली मीनारों का जीवन बनकर न रह जाये। उसके लिए यह जरूरी है कि वह एक व्यावहारिक आचरण का निर्वाह करके कथनी और करनी में संतुलन स्थापित करे। गांधी जी ने इस सामंजस्य को एक स्तर पर स्थापित किया था। पिछले दिनों देश में बौद्धिक और व्यावहारिक स्तर में जो विभिन्न विचारधाराएँ आयी हैं, उनके कारण अब उस सामंजस्य को एक नये रूप में स्थापित करने की आवश्यकता है और उस सामाजिक आर्थिक और सांस्कृतिक जिज्ञासा को शान्ति समाजवाद ही कर सकता है। आज के बौद्धिक को शान्ति भी तभी मिल सकती है, जब इन विचारों को एक नये स्तर पर स्थापित किया जाये। आज यह आवश्यक है कि आत्मनिर्भरता और निर्भीकता के माध्यम से जनता की उठान का प्रयत्न किया जाये।"

जनता की उठान से आपका मतलब ?

"जनता की उठान से मतलब है उसमें उसके अधिकारों की चेतना का उदय। अपने हितों को जानने, समझने और व्यवहार में लाने की क्षमता। भारतीय जनता का मनोबल पिछले डेढ़ हजार वर्षों से निरंतर टूटता रहा है और इस टूटने में कहीं उसकी चेतना से आत्मविश्वास खो गया है। गांधी जी ने उसमें एक झीनी संकल्प शक्ति पैदा की थी जो पिछले २० वर्षों मे कुशासन और निहित स्वार्थों के कारण तोड़ी जाती रही है। आज हम एक भयानक स्थिति से गुजर रहे है। यही सवाल सामने है कि क्या जनता के मनोबल को ऊपर उठाया जा सकता है। मेरे लिए जनता की उठान का यही अर्थ है—संकल्प-विकल्प की छूट और आचरण की स्वतंत्रता।"

कम्युनिस्टों से आप किन अर्थों मे भिन्न होकर मजदूर संगठन चलाना चाहते है ?

"कम्युनिस्ट बुद्धिवाद में व्यावहारिकता का लोप हो गया है। इसीलिए कम-से-कम भारत में अब वह केवल बौद्धिक प्रचारवाद बनकर रह गया है। कम्युनिस्ट पार्टी की सबसे बड़ी कमी यह है कि उसने गांधी जी द्वारा प्रतिष्ठित जनहितो को व्यावहारिक स्तर पर आत्मसात् करने के सत्य को स्वीकार नही किया न सम्पूर्ण देशकाल की वास्तविक स्थिति से उसने अपनी पहचान ही पैदा की। अच्छे-से-अच्छे समाजवादी सिद्धांतों को इसीलिए कम्युनिस्ट पार्टी ने व्यवहारहीन होकर लागू करने की चेष्टा की।"

क्या आप राजनीति में कोरे व्यवहारवाद के समर्थक हैं ?, "व्यवहारवाद से मेरा मतलब प्रैक्टिकल होने से नही है। मेरा मतलब तो यथार्थवाद और वस्तुस्थिति के परिप्रेक्ष्य और सन्दर्भ मे राजनीति की अवतारणा है। वस्तुतः पूरी राजनीति को बौद्धिक स्तर पर सोचने-समझने और ढालने की आज बहुत आवश्यकता है। जब मैं कथनी और करनी की बात करता हूँ, तब उसका मतलब यही है—बौद्धिक और व्यावहारिक, वैचारिक और आचरण-जन्य संतुलन। आज राजनीति का इस्तेमाल केवल शक्ति प्रदर्शन या सत्ता हथियाने के भोंडे और गंदे रूप मे किया जा रहा है। इसका कारण यह है कि राजनीति से बौद्धिक तत्त्व और वैचारिक गंभीरता को एकदम से निकाल बाहर किया गया है। वस्तुतः राजनीति को पूर्ण रूप से मानवीय बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसे बौद्धिक स्तर पर ग्रहण किया जाये और व्यवहार में ढालने की चेष्टा की जाये। आज जो भोंडा और गंदा वातावरण राजनीति की दुनिया के चारों ओर है, उसे बिना इस बौद्धिक आग्रह के दूर करना संभव नही।"

आपकी बुद्धिवादी राजनीति क्या आपके बुद्धिवादी होने के नाते ही है ? राजनीति और व्यावहारिक होने मे और बुद्धिवादी होने में क्या आप अंतर नही मानते ?

"आज तक केवल समाज का एक वर्ग ही राजनीति में भाग लेता रहा है और केवल वही वर्ग राजनीति का प्रयोग समय-समय पर करता रहा है।" अभी भी लोगों की दृष्टि कुछ ऐसी ही है। इसका नतीजा यह हुआ कि सारी नीति उस वर्ग की शक्ति और सत्ता की आपसी जय-पराजय तक ही सीमित रही है। आज सामाजिक विचारधारा विशेष कर संयुक्त समाजवादी पार्टी का यह मत है कि राजनीति को इन ठेकेदारों के हाथ से निकालना चाहिए

और उसके क्षेत्र को विस्तार किया जाना चाहिए। तभी जनता की उठान और उसका मनोबल बढ़ सकेगा। यह प्रक्रिया राजनीति के अपने ही सिद्धांत बौद्धिक स्तर पर निरूपित करने में तथा आचरण के स्तर पर कथनी और करनी में सामंजस्य स्थापित करने में व्यक्त होती है। राजनीति के लिए मूलतः इसी आधार पर बुद्धिवादी होना आवश्यक है।"

तो क्या आप यह कहना चाहते हैं कि बुद्धिवादियों को अब सक्रिय राजनीति में आना चाहिए ?

"जब राजनीति एक वर्ग विशेष की न होकर अब सब की है, तब बुद्धिवादियों को भी चाहिए कि वे बौद्धिकता और राजनीति को विचार और कर्म के स्तर पर एक साथ स्वीकार करें। आज जो एक तरह के ठहराव की स्थिति दीख पड़ती है, ऊब और झुंझलाहट की अभिव्यक्ति पायी जाती है, उसका मूल कारण यही है कि राजनीति को वे बौद्धिक अधिकार नहीं मिल पा रहे हैं जिनकी जरूरत है। आज बुद्धिवादी इस ठहराव और तनाव की स्थिति में दर्शक मात्र बनकर कैसे रह सकता है। इसे अपने विचारों के साथ-साथ कर्म-क्षेत्र में भी आना ही पड़ेगा।"

'दिनमान' के प्रतिनिधि को साही से बात करने पर ऐसा लगा कि आज एक बेचैनी समाज के विभिन्न वर्गों में व्याप्त है। चाहे राज्य कर्मचारी हों, विद्यार्थी हों, अध्यापक हों या अल्पसंख्या में संसद और विधान परिषदों के विरोधी दलों के प्रतिनिधि हों, सभी एक व्यापक बेचैनी के ही दौर का अंग हैं। बौद्धिक वर्ग भी आज इसी उथल-पुथल से गुजर रहा है। कला-साहित्य सभी क्षेत्रों में वह यह मानता है कि जो कुछ प्रतिष्ठित और स्थापित है, उसमें कहीं गतिरोध आ गया है। वह ठहर कर सड़ रहा है, टूट रहा है। सड़ने या टूटने की प्रक्रिया में रत इस व्यवस्था के प्रति आज का बौद्धिक वर्ग भी उन्मुख है। उसे अपने विवेक की अग्नि-परीक्षा देनी है। 'दिनमान' के प्रतिनिधि ने श्री साही से सीधा सवाल किया —

क्या आप मानव-मूल्यों की स्थापना के लिए वर्तमान समाजवादी दलों में केवल संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी को ही एकमात्र संस्था मानते हैं ?

'वैसे तो अन्य वामपंथी पार्टियाँ भी हैं, लेकिन संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी एक ऐसी समाजवादी पार्टी है जो समस्त राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय समस्याओं का निराकरण एक व्यापक मानवीय धरातल पर करने की चेष्टा करती है। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर गोरों और कालों के व्यापक संघर्ष से उत्पन्न कुछ सत्य

हैं जिन्हें केवल संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी ही स्वीकार करती है। अफ्रीका और एशिया की समस्याओं और उनकी आकुलता को सही परिप्रेक्ष्य देने के लिए एक नयी नीति की स्थापना केवल संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी ने ही की है। मानव-मूल्यों के आधार पर यदि देखा जाये तो अन्य राजनैतिक दल केवल फैशनपरस्त 'विश्वयार' की पंक्ति में ही जकड़े हुए लगते हैं, जब कि संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी बंधुत्व की कल्पना लेकर चलती है जिसमें खेमों में बँटी हुई दुनिया और राजनैतिक स्थितियों के आधार पर समस्याओं को न देख कर 'विश्वजन' की दृष्टि से समस्याओं को देखने का आग्रह है। राष्ट्रीय स्तर पर उसकी दृष्टि यथार्थवादी है। गरीबी, बेरोजगारी, भुखमरी आदि समस्याएँ फैशनपरस्त गृहनीति से नहीं, बल्कि यथार्थजन्य नीतियों के आधार पर हल करने की बात वह करती है। ऐसे बहुत से कारण हैं जिनसे संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी ही मुझे ऐसी पार्टी दिखायी देती है जो देशी और विदेशी नीति में संतुलन पैदा करना चाहती है और मानव-मूल्यों को नये आधार देना चाहती है।''

आज सरकार की जो दमन नीति है, क्या उससे आगामी चुनाव में जनता का मनोबल नहीं टूटेगा?

''मैं समझता हूँ कि दमन से हमें शक्ति ही मिल रही है। दमन से मनोबल भी टूटता है, लेकिन आज देश की स्थिति यह है कि दमन के विरोध में खड़े होने में जो यातना भोगनी पड़ रही है, वही उससे दब कर बैठ जाने में भी है। अब कोई विकल्प नहीं रह गया है। मरता क्या न करता। मौत जब दोनों ही हालतों में हो, तब विरोध को शक्ति मिलती है, प्रतिरोध से शक्ति बढ़ती है। मैं समझता हूँ कि पिछले साल भर से दमन की जो नीति सरकार चला रही है, उससे प्रतिरोध की क्षमता मजबूत हो रही है और अन्याय का सामना करने की हिम्मत भी। गांधी जी की सबसे बड़ी देन यही रही है कि वह अहिंसात्मक ढंग से प्रतिरोध और विरोध को विकसित करने तथा मनोबल को दृढ़ करने की नयी प्रेरणा देश को दे गये हैं। मैं समझता हूँ कि मजदूरों में यह क्षमता आज सबसे अधिक है। आज तक राजनीति सहूलियत की राजनीति रही है, लेकिन अब राजनीति जोखम की राजनीति बन गयी है। बिना अपने को जोखम में डाले न तो विचारों में क्रांति हो सकती है और न आचरण में ही।''

जोखम की राजनीति से आपका क्या मतलब है?

"अपनी बौद्धिकता को जोखम में डालना। आज हर जागरूक बौद्धिक का यह कर्तव्य है कि वह अपनी बौद्धिकता को जिसका उद्देश्य घुटन और जकडन वाले समाज पर चोट करना है, जोखम में डाले। यानी स्वयं तैयार हो कर घुटन और जकड़न वाली समाज की चोट को स्वीकार करे। तभी कुछ नतीजा निकल सकता है। शीशे की अलमारियों में बंद जीवन-दर्शन का भारतीय बौद्धिक के लिए आज विशेष अर्थ नही रह गया है। किसी भी बौद्धिक के लिए राजनीति का दो अर्थों में भेद करना बड़ा जरूरी है। एक अर्थ तो राजनीति का यह है कि आज के समाज की घुटन, जकडन, पूर्वाग्रह और रूढ़ियों का सहारा लेकर जल्दी-से-जल्दी कुर्सियो तक पहुँच जाना। इस अर्थ में राजनीति सौदेबाजी से भिन्न नही है और इस अर्थ में ही राजनीति एक बदनाम शब्द है, लेकिन राजनीति का एक दूसरा अर्थ भी है जिसके अनुसार वह आज के इस समाज की जकडन और पूर्वाग्रहों पर भरपूर चोट करने और समाज की सृजनशील शक्तियों को उभरने के लिए अवसर प्रदान करने का अस्त्र है। हो सकता है कि इस कोशिश में आज बौद्धिक वर्ग आगे के लिए सिर्फ खाद बन कर रह जाये। लेकिन इसके लिए उसे आगे बढ़ना ही होगा।"

क्या आज के साहित्य में भी आप इस प्रकार के तत्त्व पाते है ?

"हाँ। एक तरफ तो ऐसे साहित्यकार हैं जो समाज की घुटन और पूर्वाग्रहों पर मुलम्मा चढ़ा कर सुलभ लाभ, सुलभ यश और सुलभ पुरस्कार अर्जित करते हैं। इसकी कीमत वह अपनी बौद्धिक और भावनात्मक मृत्यु से चुकाते हैं। दूसरी तरफ ऐसे साहित्यकार भी हैं जो इन तमाम रूढ़ियों पर भरपूर चोट करते हैं और इस कोशिश में ये अपने व्यक्तित्व और सृजनशीलता तक को दांव पर लगा देते हैं और आगे के लिए सिर्फ खाद बनने के विकल्प को भी स्वीकार कर लेते हैं। आज के समाज मे मौत दोनों के लिए ही है, लेकिन एक भ्रष्टाचार फैलाता है और सडाँध पैदा करता है, तो दूसरा अपनी मृत्यु में भी तेजस्विता और उत्सर्ग की लौ जगाता है।"

राजनीति का जो विश्लेषण आज आप कर रहे हैं, क्या आप नहीं मानते कि साहित्य इस दौर से बहुत पहले ही गुजर चुका है ?

"यह सच है। यह बहुत दिलचस्प बात है कि साहित्य में जो वातावरण आज से १५ वर्ष पहले घटित हुआ, राजनीति और समाज को वहाँ पहुँचने में १५ वर्ष लगे। इसीलिए मैं जरूरी समझता हूँ कि स्वयं को इस नये परिवेश मे एक बार फिर डालूं। साहित्यिक प्रेतों की तरह आज राजनीति में कांग्रेस

के लोग राजनैतिक प्रेत हो गये हैं। राजनीति का सबसे प्रमुख प्रश्न आज यही है कि क्या हिन्दुस्तान इन प्रेतो के विरुद्ध एक ऐसी मौलिक दृष्टि और शक्ति पैदा कर सकेगा जो हमारी अधूरी बौद्धिक क्रांति को पूरा करने के लिए सृजनशीलता के द्वार खोल दे। मुझे लगता है कि आज राजनीति मे यह संभावना उदित हो रही है।"

□□

1. १९६७ के लोकसभा चुनाव के समय 'दिनमान' द्वारा लिया गया साही जी का इन्टर्व्यू।

जनतान्त्रिक समाजवाद—संदेह और उसका कारण

'संघर्ष' के स्तम्भों में तथा अगस्त की जनवाणी मे आचार्य जी का लेख छपा है। जनवाणी में उसका शीर्षक है 'जनतान्त्रिक समाजवाद ही क्यों'। इसमें एक स्थान पर कहा गया है "यह सच भी है कि समाजवाद जनता का जनतन्त्र है। किन्तु कुछ लोग ऐसे हैं जो डेमोक्रैसी शब्द को सुनते ही भड़क उठते हैं। उनके सामने एकदम पार्लियामेंटरी डेमोक्रैसी का चित्र आ जाता है और वह समझने लगते है कि इस सोशलिज्म का चुनाव से अवश्य कुछ सम्बन्ध होगा।"

इसमें कोई सन्देह नही कि जनतान्त्रिक प्रयोग और व्यवहार, शब्द और प्रयोजन पर, जब से यह शब्द सोशलिज्म को निश्चित अर्थ देने के लिए स्वीकृत हुआ, पार्टी के कार्यकर्ताओं में कुछ उलझन-सी रही है। विभिन्न कारणो से इस शब्द का असली महत्त्व साथियों के दिमाग में बहुत साफ नहीं हुआ था। जयप्रकाश जी और आचार्य जी के वक्तव्यों, लेखों और मद्रास की रिपोर्ट ने बहुत कुछ इस मामले की सफाई की है। और पार्टी के साथियों से बहस के दौरान मे मेरा अनुभव यही रहा है कि इधर की अधिकारी व्याख्याओं ने काफी तौर से वह काम किया है जो दो बरस की आपसी बहस के बावजूद भी नहीं हो सका था।

मैं उन लोगों में से तो अपने को नहीं कहता जो डेमोक्रैसी शब्द को सुनते ही भड़क उठते हैं लेकिन मुझे ऐसा जरूर लगता है कि उन लोगों के पास जो यह समझने लगते हैं कि इस सोशलिज्म का चुनाव से अवश्य कुछ सम्बन्ध होगा, चाहे उन्हे चुनाव से नफरत हो या मुहब्बत, इस संदेह के लिए काफी गुंजायश है। मैं समझता हूँ कि हाल की दी गयी व्याख्याओं के बाद 'डेमोक्रैटिक' का अर्थ समझने मे अब बहुत भ्रम नही होना चाहिये। लेकिन देखने की बात यह भी है कि आखिर इस भ्रम को उत्पन्न होने की कोई वजह भी थी या नही और अगर थी, चाहे वह कितनी ही छोटी क्यों न हो, उसे दूर करना चाहिये। चूंकि यह सवाल पार्टी के आधारभूत सिद्धान्तों का सवाल है जिन्हे मानना हर पार्टी सदस्यों के लिए अनिवार्य है, इसलिए यह जरूरी

कि इस सम्बन्ध में शब्दों, वाक्यों और उनके अर्थों का चुनाव इतना साफ और सही होना चाहिये कि भ्रम और व्यतिक्रम की गुंजायश कम-से-कम हो।

बंगलोर की नीति घोषणा में दो महत्त्वपूर्ण स्थानों पर 'डेमोक्रैटिक' शब्द का प्रयोग हुआ है। एक तो, 'डेमोक्रैटिक सोशलिज्म' के संदर्भ में जहाँ पार्टी के चरम लक्ष्य को स्पष्ट किया गया है "पार्टी जिस समाजवादी समाज को अपना उद्देश्य मानती है वह ऐसा समाज है जिसमें पूरी-पूरी आर्थिक और राजनीतिक डेमोक्रैसी हो।" यहाँ डेमोक्रैटिक एक विशेष प्रकार के राज्य-संचालन और सामाजिक नियमन की व्यवस्था का अर्थ रखता है जिसमें पार्टी की नीति घोषणा के अनुसार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता हो, विरोधी पार्टियाँ हों, मजदूरों की संस्थाएँ स्वतन्त्र हों, राज्य का एकाधिकार न हो, आदि। स्पष्ट है कि इस डेमोक्रैटिक सोशलिज्म से किसी को किसी प्रकार का संशय नहीं हो सकता। खास तौर से उस समय जबकि नीति-घोषणा में ही पहले और बाद के पैराग्राफों में 'टोटैलिटेरियन कम्युनिज्म' और योरप की सोशल डिमोक्रैसी से इसका भेद अच्छी तरह समझा दिया गया।

दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रयोग है इसके, और हमारी राजनीति के लिहाज से सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय, 'समाजवाद की ओर परिवर्तन' में। यहाँ ऊपर बताये हुए 'डेमोक्रैटिक सोशलिज्म' को कायम करने का तरीका या रास्ता बतलाया गया है। मैं आवश्यक उद्धरण देता हूँ। "एक ऐतिहासिक क्रम की तरह देखने पर इस संक्रान्ति की दो मंजिलें हो सकती हैं; एक वह मंजिल जहाँ वर्ग-संघर्ष की परिणति समाजवादियों द्वारा सत्ता हस्तगत (कैप्चर आफ पावर) करने में होती है; दूसरी वह जब शक्ति सम्पन्न समाजवादी समाज का निर्माण करने लगते हैं। सिद्धान्ततः राज्य-सत्ता दो में से किसी भी तरीके से प्राप्त की जा सकती है, यथा या तो तत्कालीन राज्य के 'इन्सरेक्शनरी ओवर थ्रो' सशस्त्र

उसमें इन्सरेक्शनरी नहीं शामिल है क्योंकि इसके लिए खास तौर से कहा गया कि डेमोक्रैटिक और इन्सरेक्शनरी दो जुदा-जुदा चीजें हैं। या हम यों भी कह सकते हैं कि पार्टी सिद्धान्त के अनुसार इन्सरेक्शनरी तरीका डेमोक्रैटिक तरीका नहीं है और इस तरह हम एक विचित्र नतीजे पर पहुँचते हैं कि डेमोक्रैटिक सोशलिज्म की स्थापना नान डेमोक्रैटिक (अलोकतांत्रिक) तरीको से भी हो सकती है; जिसे कम-से-कम मैं तो मानने के लिए नही तैयार हूँ क्योंकि हमारी पार्टी की नीति-घोषणा में कहा है, "मार्क्सवाद का यह स्वयंसिद्ध सिद्धान्त है कि बगैर डेमोक्रैसी के किसी भी प्रकार का सोशलिज्म नही हो सकता।" और मैं मानता हूँ कि नीति घोषणा में कही हुई यह बात सच है।

डेमोक्रैटिक सोशलिज्म के सम्बन्ध मे भ्रम होने का पहला कारण यह है कि 'डेमोक्रैटिक उपायो' के प्रकरण में डेमोक्रैटिक शब्द का गलत और संकुचित प्रयोग किया गया है जिससे डेमोक्रैटिक सोशलिज्म के प्रकरण मे भी डेमोक्रैटिक शब्द का संकुचित अर्थ मालूम होने लगता है।

इस भ्रामक प्रयोग का फायदा उठाकर कम्युनिस्ट पार्टी या कांग्रेस के जो भेदिये हमारी पार्टी में घुसे हुए है, वह बार-बार यही प्रचार करने में लगे हुए हैं कि डेमोक्रैटिक सोशलिज्म और डेमोक्रैटिक उपाय एक ही चीजें है और इस तरह पार्टी में व्यतिक्रम और गलत मोड़ पैदा करने के लिए वातावरण तैयार करते हैं।

इन्सरेक्शन या सशस्त्र जन-विद्रोह के तरीके की व्याख्या करते हुए कहा गया है "इन्सरेक्शन मुट्ठी भर षड्यन्त्रकारियों की छुट-पुट हिंसा नही, बल्कि जनता द्वारा सशस्त्र विद्रोह है। इन्सरेक्शन तभी सफल होता है जब उसके पीछे जनता को ताकत और कम-से-कम उसके अधिक जाग्रत लोगों का सक्रिय भाग हो।" यदि इन्सरेक्शन की यह व्याख्या मार्क्स या लेनिन के सामने रखी जाती तो वह क्या इसे डेमोक्रैटिक न कहते ? और फिर इस इन्सरेक्शन की शर्तें बतायी गयी हैं। इन्सरेक्शनरी उपाय अनिवार्य हो जाते हैं जब विशेषाधिकारों और स्थिर स्वार्थों वाला एक छोटा-सा वर्ग सारी जनता के ऊपर केवल बल के भरोसे शासन करता है, जो सिवाय हिंसात्मक उलट-फेर के किसी भी तरह इन शासको से छुटकारा नही पा सकती।" मैं समझता हूँ कि यदि ऐसी परिस्थितियो मे और उपर्युक्त व्याख्या के साथ इन्सरेक्शन की बात टी० एच० ग्रीन, हेराल्ड लास्की और जवाहरलाल नेहरू से भी कही जाय तो वे उसे डेमोक्रैटिक मान लेंगे, मार्क्स और लेनिन की बात तो बहुत दूर है। यह कहा

गया है कि 'इन्सरेक्शन के उठने और सफल होने के लिए यह जरूरी है कि नरोदनाया वोल्याका दर्शन और राजनीति रुसी सोशल डिमोक्रैटिक लेबर पार्टी के दर्शन और नीति में बदल दी जाय।'' मैं जहाँ तक लेनिन और प्लेखनाव को, जो रशन सोशल डेमोक्रैटिक लेबर पार्टी के नेता थे, समझ पाया हूँ, उससे मैंने यही देखा है कि ऐसी क्रिया को जिसे हम अपनी परिभाषा में 'इन्सरेक्शन' कह कर 'डेमोक्रैटिक उपायों' से अलग करते हैं, ये दोनों महानुभाव बिना किसी अपवाद के बराबर डेमोक्रैटिक क्रिया, या डेमोक्रैटिक क्रान्ति ही कहते हैं।

भ्रम का दूसरा कारण यह है कि डेमोक्रैटिक उपाय से अलग, उसके प्रतिद्वन्द्वी और विरोधाभास स्वरूप इन्सरेक्शन की व्याख्या की गयी है। डिमोक्रैटिक सोशलिज्म के अन्तर्गत डिमोक्रैटिक साधनों के प्रकरण में यदि डिमोक्रैटिक शब्द जनता के इन्सरेक्शन को शामिल नहीं करता तो वह अधूरा और निरर्थक है। और कोई भी इन्सरेक्शन जिसे जनता का सफल और सक्रिय समर्थन प्राप्त है, विशेषतः उस परिस्थिति में जब शासन को बदलने का वही एकमात्र तरीका हो, पूर्णतः डेमोक्रैटिक है। शब्दों का प्रयोग इस सत्य को ध्यान में रखकर होना चाहिये।

मैं समझता हूँ कि पार्टी के साथी जब सशस्त्र जनक्रान्ति की बात सोचते हैं, और नीति-घोषणा के अनुसार उन्हें यह खयाल आये कि उनकी विचारधारा जनतांत्रिक नहीं है और तब उन्हें घबराहट हो तो इस उलझन के लिए उनसे अधिक जिम्मेदारी शब्दों के भ्रामक प्रयोग पर है।

डेमोक्रैटिक या जनतंत्रात्मक उपाय की विवेचना यों की गयी है, ''खयाल रखना चाहिये कि जनतंत्रात्मक और महज वैधानिक या पार्लियामेन्टरी तरीकों मे भ्रम न हो। यद्यपि पहले के भीतर दूसरे शामिल हैं लेकिन उनका क्षेत्र काफी बड़ा है। सविनय प्रतिरोध, सत्याग्रह, हड़ताल (कुछ अवस्थाओं में) वैधानिक उपाय नहीं हैं, लेकिन ये जनतंत्रात्मक उपाय हैं।'' आचार्य जी ने चुनाव के अतिरिक्त उपायों को गिनाते हुए कहा है, ''यह अन्य उपाय प्रचार, संगठन, हड़ताल, सत्याग्रह आदि हैं।'' आगे आचार्य जी कहते हैं, 'अन्य जनतांत्रिक उपाय ही मुख्य हैं। सामान्यतः इन्हीं का आश्रय लेना पड़ता है। इनके बिना सशस्त्र जनक्रान्ति की भी भूमिका तैयार नहीं होती।'' नीति घोषणा में कहा गया है, ''इस सारे काम का उद्देश्य केवल चुनाव में विजय प्राप्त करना नहीं है बल्कि वर्तमान समाज के गर्भ में समाजवाद की नींव रखना है।''

यह तो नीति घोषणा में साफ कहा गया है कि क्रान्ति की दो मंजिलें हैं एक वह जब समाजवादी सत्ता पर अधिकार करते हैं दूसरी यह जब वह समाजवाद के निर्माण का कार्य करते हैं। इन दो मंजिलों को ऐतिहासिक क्रम से अलग क्यों किया गया ? शायद इसीलिए कि हमारे तात्कालिक उद्देश्य के सम्बन्ध में गलतफहमी न हो। नीति घोषणा हमको बताना चाहती है कि हम समाजवादियों का पहला ऐतिहासिक उद्देश्य सत्ता पर अधिकार करना नहीं। बेशक जो संगठन या आन्दोलन हम आज करेंगे उसमें अनिवार्यतः आगे आनेवाली दूसरी ऐतिहासिक मंजिल के लिए भूमिका तैयार होगी, वर्तमान समाज के गर्भ में शायद समाजवाद की नींव भी पड़ेगी लेकिन हमारी आज की राजनीति को इसे गौण स्थान देना चाहिए। जो चीज निर्णयात्मक और महत्त्वपूर्ण है यह वर्तमान राज्य की सत्ता को अपने कब्जे में लाना है। अतएव सत्ता प्राप्त करने के दृष्टिकोण से हमें देखना चाहिए कि तथाकथित डेमोक्रैटिक उपाय का क्या मतलब होता है ? चुनाव के अतिरिक्त नीति-घोषणा में सविनय प्रतिरोध, सत्याग्रह और हड़ताल गिनाये गये हैं। आचार्य जी ने इसमें 'प्रचार और संगठन' भी शामिल कर लिया है। क्या 'सविनय प्रतिरोध, सत्याग्रह और हड़ताल' तथा 'प्रचार और संगठन' इतनी यथेष्ट क्रियाएँ हैं जिनसे सरकार पर कब्जा हो सके ? बिल्कुल नहीं। इन क्रियाओं की प्रयोजनीयता सरकार पर कब्जा करने में यही है कि इनकी आवश्यक परिणति या तो चुनाव या इन्सरेक्शन में समाजवादी विजय में हो। अपने में ये क्रियाएँ अधूरी हैं। अतएव डेमोक्रैटिक उपायों में गिनाई हुई क्रियाओं की सारी सूची में वास्तविक रणनीति के खयाल से अगर कोई निर्णायक क्रिया प्रमुख दिखलाई पड़ती है तो वह चुनाव ही है। अगर किसी महत्त्वपूर्ण चुनाव में हमें विजय की आशा हो और उसी समय सत्याग्रह छिड़ने की भी सम्भावना हो, लेकिन सत्याग्रह छेड़ने में इस बात का खतरा हो कि हमारे कार्यकर्ता गिरफ्तार हो जायेंगे और शायद हमारे चुनाव को धक्का लगे तो डेमोक्रैटिक साधन को माननेवाले सच्चे समाजवादी की तरह हम किसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझेंगे ? बेशक चुनाव को और सत्याग्रह को स्थगित करना ही उचित होगा। इसलिए आचार्य जी का यह कथन कि "अन्य जनतान्त्रिक उपाय ही मुख्य हैं" बहुत जोरदार नहीं मालूम होता।

मैं स्वीकार करता हूँ कि अगर कोई साथी मेरे सामने इस तरह तर्क उपस्थित करे तो बेशक मुझे उसके तर्क को काटने में कठिनाई होगी और मैं

उसके संदेह को निरर्थक कहकर नही टाल सकूँगा। या इसी तरह किसी साथी के दिमाग में यह तर्क उठ सकता है—

"नीति-घोषणा में इन्सरेक्शन और चुनाव को दो स्वतन्त्र और समानान्तर ढंगों के रूप में प्रस्तुत किया गया है, इसलिए मुझे लगता है कि इसके पीछे ख़याल यह है कि एक तरीका दूसरे तरीके से मौलिक रूप से अलग है। दोनों का मौलिक भेद इस चीज से और भी स्पष्ट हो जाता है कि इन दो तरीकों के लिए दो स्पस्टतः बिलकुल अलग ऐतिहासिक परिस्थितियों की आवश्यकता बतलायी गयी है। मै देखना चाहता हूँ कि दोनो तरीकों में रणनीति और व्यावहारिक क्रिया मे मौलिक और निर्णयात्मक भेद कहाँ है? सविनय अवज्ञा, सत्याग्रह और हड़ताल को डेमोक्रैटिक तरीके में शामिल किया गया है। लेकिन क्या वस्तुतः ये चीजें केवल डेमोक्रैटिक तरीके तक ही सीमित हैं? मैं तो समझता हूँ कि इन्सरेक्शन के उद्देश्य और तरीके में भी इन्हे इतने ही जोरदार प्रमाणों के साथ शामिल किया जा सकता है, बल्कि कहना पड़ेगा, जितना डेमोक्रैटिक तरीके मे। नीति-घोषणा इस विषय पर बिल्कुल मौन है। क्यों मौन है? इसे मैं नही जानता। लेकिन मेरे कथन की पुष्टि तो स्वयम् आचार्य जी के शब्दों से होती है। अन्य जनतान्त्रिक उपायों की बात करते हुए वे कहते हैं, "सामान्यतः इन्ही का आश्रय लेना पड़ता है। इनके बिना सशस्त्र जनक्रान्ति की भी भूमिका तैयार नहीं होती।" यह बड़े महत्त्व का वक्तव्य है। इसका मतलब यह हुआ कि सशस्त्र जनक्रान्ति के तरीके में यह 'अन्य जनतान्त्रिक उपाय' केवल शामिल ही नहीं हैं बल्कि अनिवार्य है। इसलिए साबित हुआ कि यह चीजें सशस्त्र जनक्रान्ति और जनतान्त्रिक उपाय में मौलिक भेद नही पैदा करतीं। तो फिर तथाकथित जनतान्त्रिक उपाय की विशेषता क्या बची? केवल चुनाव।"

भ्रम होने का तीसरा कारण यह है कि 'डेमोक्रैटिक उपाय' कहकर जो रणनीति प्रस्तुत की गयी है, सशस्त्र जनक्रान्ति के मुकाबले में उसकी विशिष्टता केवल चुनाव से ही है और इसीलिए डेमोक्रैटिक से चुनाव की ओर व्यतिक्रम की सम्भावना पैदा हो गयी।

मैं इसकी ओर साथियों का ध्यान जरूर आकर्षित करना चाहूँगा कि गलत मोड़ और सैद्धान्तिक व्यतिक्रम का यह खतरा केवल काल्पनिक नहीं है। आचार्य जी का ख्याल है कि इस तरह की भ्रान्त धारणा उन साथियों की है जो क्रान्तिकारी हैं और जिन्हें चुनाव से नफरत है। मैं यहाँ जोड़ना चाहूँगा कि बहुत से ऐसे साथी हैं जिन्हें चुनाव से काफी मुहब्बत है और

डेमोक्रैटिक शब्द का गलत मतलब लगाकर चुनाव की अनिवार्यता में विश्वास करते हैं। मुजफ्फरनगर की पिछली कान्फ्रेन्स में मैंने अक्सर डेलीगेटों से और कुछ महत्त्वपूर्ण साथियों से यह प्रश्न पूछा कि डिमोक्रैटिक सोशलिज्म में चुनाव का आप क्या महत्त्व समझते हैं। अक्सर चुनाव के पक्ष में जबरदस्त बातें कहते-कहते यहाँ तक कह डाला कि चुनाव तो हमारे सिद्धान्त में अनिवार्य है, नहीं तो डेमोक्रैटिक सोशलिज्म को डेमोक्रैटिक ही क्यों कहा जाता! मेरे सामान्य अनुभव में उन 'क्रान्तिकारियों' से 'चुनाववादियों' की तादाद कहीं ज्यादा है जो डेमोक्रैटिक सोशलिज्म का गलत अर्थ लगाते हैं।

असल में गलती का मूल स्रोत कहाँ है यही समझना जरूरी है। प्रारम्भिक गलती यही है कि 'डेमोक्रैटिक उपायों के प्रकरण में डेमोक्रैटिक शब्द का गलत प्रयोग किया गया है। वस्तुतः इन उपायों की विशिष्टता यह नहीं है कि वे डेमोक्रैटिक हैं बल्कि बिल्कुल दूसरी है। यह कठिनाई अधिकारी व्याख्याओं के सिलसिले में और भी स्पष्ट हो गयी है। जयप्रकाश जी अपनी मद्रास वाली रिपोर्ट में कहते हैं, "पार्टी की नीति-घोषणा में साफ-साफ यह बात कही गयी है कि सामाजिक क्रान्ति के दो रास्ते हैं (१) जनता के शसस्त्र विद्रोह या इन्सरेक्शन का रास्ता (२) शान्तिमय या डेमोक्रैटिक तरीका।"[१] कठिनाई यही है कि पार्टी की नीति-घोषणा में दूसरे तरीके को कहीं भी 'शान्तिमय' नहीं कहा गया है। वहाँ केवल डेमोक्रैटिक शब्द है। आचार्य जी ने अपने सामयिक लेख में डेमोक्रैटिक की जगह 'शान्तिमय' शब्द का प्रयोग उन साधनों की व्याख्या और समर्थन करने में किया है जिन्हें नीति-घोषणा में डेमोक्रैटिक कहा गया है। ऐसा लगता है कि आचार्य जी और जयप्रकाश जी ने डेमोक्रैटिक और शान्तिमय को पर्यायवाची शब्द माना है। मेरी विनम्र बुद्धि में डेमोक्रैटिक और शान्तिमय समानार्थी शब्द नहीं माने जा सकते। सच्ची बात तो यह है कि तथाकथित जनतान्त्रिक उपायों का यदि कोई भी सही नाम हो सकता है तो वह 'शान्तिमय उपाय' ही, क्योंकि यही उनकी विशिष्टता है जो उन्हें उपायों से अलग करती है।

'डेमोक्रैटिक' उपायों के समर्थन में जयप्रकाश जी ने मार्क्स के १८७२ में हालैण्डवाले भाषण का उद्धरण दिया है और आचार्य जी ने भी उसी भाषण का जिक्र किया है। मैं जयप्रकाश जी की रिपोर्ट से ही मार्क्स के उस भाषण का आवश्यक अंश उद्धृत करता हूँ—"हम इससे इनकार नहीं करते कि इंग्लैण्ड और अमेरिका ऐसे देश हैं, और यदि मैं आपकी संस्थाओं को अच्छी तरह समझता हूँ तो शायद हालैण्ड भी, जहाँ मजदूर अपना लक्ष्य 'शान्तिमय'

१. पार्टी की मद्रासरिपोर्ट पृष्ठ १३७

तरीके से प्राप्तकर सकेंगे।" मार्क्स ने स्पष्टतः केवल *शान्तिमय का प्रयोग* किया है। मैं निवेदन करना चाहूँगा कि शान्तिमय शब्द का प्रयोग यहाँ जान-बूझकर किया गया है क्योंकि मार्क्स के दिमाग में डेमोक्रैटिक शब्द का जो अर्थ था वह शान्तिमय जैसे संकुचित क्षेत्र के लिए इस्तेमाल नहीं हो सकता था। डेमोक्रैटिक और शान्तिमय दो बिल्कुल अलग अर्थ रखनेवाले शब्द हैं। कभी-कभी 'फ्रान्स मे वर्ग-संघर्ष' नामक मार्क्स की पुस्तक में एंगेल्स की महत्त्व-पूर्ण भूमिका का भी जिक्र 'डेमोक्रैटिक' उपायों की पुष्टि के लिए किया जाता है। इस भूमिका मे जर्मनी की सोशलिस्ट पार्टी की तत्कालीन नीति में प्रचार और चुनाव के तरीके का जोरदार समर्थन करते हुए एंगेल्स ने सशस्त्र विद्रोह की नीति का जबरदस्त खण्डन किया है। लेकिन एंगेल्स ने भी उस साधन को बराबर कानूनी या वैधानिक साधन कहा है। डेमोक्रैटिक कहकर उस शब्द के व्यापक अर्थ को संकुचित नहीं किया है।

सच्ची बात तो यह है कि इस तरीके का सबसे सही नाम शान्तिमय तरीका ही है। डेमोक्रैटिक शब्द की अनुपयुक्तता के कारण ही जयप्रकाश जी और आचार्य जी दोनों को ही शान्तिमय शब्द का प्रयोग करना पड़ा। लेकिन गलतफहमी का कारण केवल इतने से दूर नहीं होगा। यह जरूरी है कि डेमो-क्रैटिक शब्द की व्यापकता को कायम रखने के लिए इस अर्थ में डेमोक्रैटिक शब्द का प्रयोग बिल्कुल बन्द कर दिया जाय और पार्टी की नीति-घोषणा में साधनों वाले प्रकरण में आवश्यक सुधार किया जाय। पिछली बार साथी प्रेमभसीन जब लखनऊ आये थे तो मैंने उनका ध्यान इस ओर आकर्षित किया था और उन्होंने मेरे विचार को स्वीकार किया था। मैं राष्ट्रीय कार्य-कारिणी, आचार्य जी, जयप्रकाश जी का ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहूँगा।

जिस तरह जनतन्त्रात्मक समाजवाद को योरप की सोशल डेमोक्रैसी से अलग किया गया है उसी तरह जनतन्त्रात्मक पद्धति को, जिसे आगे मैं औचित्य के विचार से शान्तिमय पद्धति कहूँगा, वैधानिक पद्धति से अलग करने की कोशिश की गयी है। योरप मे सोशल डेमोक्रैसी का जो करुण और क्षोभजनक स्वरूप दो महायुद्धों के बीच में हुआ है, और इस समय शान्तिमय क्रान्ति के नाम से जिस समझौतावादी समाजवाद के तमाशे को वहाँ हम देख रहे हैं, उससे यह निहायत जरूरी है कि न केवल उन गलतियों से हम शिक्षा लें जो उन्होंने की बल्कि अपने को बराबर उन सैद्धान्तिक व्यति-क्रमों से भी बचावें जो योरप की इन पार्टियों की गद्दारी के कारण हुए। आज

हमारी पार्टी के सामने हिन्दुस्तान में जो ऐतिहासिक परिस्थिति है उसने हमें बतलाया है कि आज के समय में शान्तिमय तरीके ही काम दे सकते हैं। मैं समझता हूँ इस ऐतिहासिक निष्कर्ष पर पार्टी के साथियों में कोई मतभेद नही है और न होना चाहिए। लेकिन यह शान्तिमय तरीके वैधानिक तरीकों से अलग हैं। इन दोनों में फर्क की आवश्यकता के सम्बन्ध में कुछ विशेष कहने की जरूरत नहीं है क्योंकि पार्टी की नीति-घोषणा और अधिकारी व्याख्याओं में इसकी आवश्यकता को स्वीकार किया गया है।

मै देखना यह चाहता हूँ कि पार्टी के काम करने के ढंग अर्थात् हमारी वास्तविक और व्यावहारिक रणनीति, तथा बौद्धिक और सैद्धान्तिक तैयारियो में इस फर्क को कहाँ तक सचमुच कायम रखा जा सका है या रखा जाता है। क्योंकि योरोपीय सोशल डेमोक्रैसी के अधिकतर व्याख्याताओं, कार्लट्स्की से लेकर लास्की और ब्लूम तक ने अपने उपायो को बोलशेविक उपायो के मुकाबिले में 'शान्तिमय' ही कहा है। वैधानिक उपाय, पालियामेण्टरी सोशलिज्म या वैधानिक समाजवाद आदि नाम तो उनके विरोधियों द्वारा दिये गये हैं। हाँ, इङ्गलैण्ड में जरूर ई० एफ० एम० डुबीन जैसे विचारक हुए है जिन्होने खुले शब्दों में वैधानिक कहकर अपनी पद्धति का समर्थन किया है। वस्तुतः हमें याद रखना होगा कि केवल अलग-अलग नाम रख देने से ही हमारी और सोशल डेमोक्रैसी की पद्धति मे फर्क पैदा नही हो जायगा।

हमारे शान्तिमय उपायो को कौन सी चीज योरप की विफल सोशल डेमोक्रैसी के उपायो से अलग करती है? हमारी रणनीति उनसे कहाँ पर भिन्न है? इसी प्रश्न के समुचित और जोरदार उत्तर पर इस समस्त विवाद का हल निर्भर करता है।

'प्रचार, संगठन, हड़ताल, सत्याग्रह' आदि, लेकिन इनमें से प्रचार संगठन और हड़ताल का प्रयोग तो दुनिया की सभी समाजवादी पार्टियों ने किया है और करती हैं। यहाँ तक कि घोर वैधानिकतावादी लेबर पार्टी के लिए भी ये हथियार प्राण की तरह आवश्यक हैं। हड़ताल के बारे में यह जरूर है कि लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए हड़ताल के ढंग मे विशेषता लायी जा सकती है। जो पार्टी सुधारवादी होगी वह हड़ताल को आर्थिक दायरे तक सीमित रखेगी, जो क्रान्तिकारी होगी वह उसे अधिक-से-अधिक वर्ग-चेतना और सामाजिक क्रान्ति के लक्ष्य की ओर प्रेरित करेगी लेकिन फिर भी हड़ताल का ढंग विश्वव्यापी हो चुका है और समझौतावादी; वैधानिकतावादी, यहाँ तक कि प्रतिक्रियावादी पार्टियाँ भी हड़तालो का संगठन करती है। कहा जाता है

कि वैधानिकतावादी पार्टियाँ केवल पार्लियामेण्टरी प्रचार और चुनाव लड़ने की मशीन भर होती हैं। यह बात तो स्पष्टतः गलत मालूम होती है। कम-से-कम दुनिया की हर मेल की सोशलिस्ट पार्टियों के सम्बन्ध में तो यह बात ठीक नहीं उतरती। जर्मनी की सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी के पास भी मजदूर संघों का एक विस्तृत संगठन और कार्यक्रम था; उसी तरह इङ्गलैण्ड और फ्रान्स की सोशलिस्ट वैधानिकतावादी पार्टियों का आधार भी मजदूरों का वर्ग संगठन था। स्वीडन के सोशलिस्टों ने सहकारिता के आन्दोलन पर बड़ा जोर लगाया। बल्कि इस दृष्टिकोण से देखा जाय तो सुधारवादी सोशलिस्ट तथाकथित 'रचनात्मक' कार्य में क्रान्तिकारी मार्क्स, लुक्सेम्बर्ग या लेनिन से कहीं ज्यादा दिलचस्प मालूम पड़ेंगे। अन्त में इस प्रकार के सुधारवाद ने ही उनकी क्रान्तिकारी सूझ-बूझ और हिम्मत को कुन्द कर दिया और उनकी करुण विफलता सामने आयी।

हमारी सोशलिस्ट पार्टी के शान्तिमय उपायों को योरप के वैधानिक उपायों से अलग करने और उसमें क्रान्तिकारी संघर्षशीलता भरने वाली अगर कोई चीज है तो यह सत्याग्रह है। यह एक नया अस्त्र है जिसे योरप ने न अभी तक प्रयोग किया है और न शायद समझा ही है। इसके महत्त्व को आचार्य जी और जयप्रकाश जी ने काफी जोर देकर समझाया है। पार्टी के साथियों को इसकी शक्ति और सम्भावनाओं को स्वीकार करना चाहिए।

गांधी जी ने इस सत्याग्रह का प्रयोग विभिन्न प्रकार के छोटे बड़े उद्देश्यों के साथ किया। लेकिन जो चीज विशेष रूप से ध्यान देने की है वह यह कि वे बराबर इसके प्रयोग मे नये अनुभवों को काम में लाते रहे, पुरानी गलतियों से फायदा उठाते रहे, और इस तरह अस्त्र को अधिक-से-अधिक विस्तृत करते रहे। इसलिए सबसे जरूरी बात यह है कि हम समझें कि सत्याग्रह एक बहुत ही गत्यात्मक और लचीला अस्त्र है और इसीलिए इसकी सम्भावनायें जितनी व्यापक हैं उतनी ही अनिश्चित। दूसरी बात यह कि गांधी जी की विचारधारा में सत्याग्रह में समझौता निहित था। व्यक्तिगत रूप से गांधी जी का दृष्टिकोण क्या था, इसे मैं नहीं कह सकता और न शायद यह बहस के लिए जरूरी भी है; लेकिन ऐतिहासिक विश्लेषण के बाद शायद अधिकतर साथी मेरे इस विचार से सहमत होंगे।

पार्टी के हाथ में आने पर यह अस्त्र एक नये और बिल्कुल अलग तरह के वातावरण मे इस्तेमाल हुआ है। वर्ग-संघर्ष के लिए सत्याग्रह का प्रयोग सत्याग्रह की टेकनीक में नयी सम्भावनायें विकसित करेगा, यह स्पष्ट है। हम एक

नयी मंजिल पर आ पहुँचे है। मेरा ख्याल है कि इस नये वातावरण और नयी समस्या के कारण हमें लाजमी तौर से नये प्रयोग करने होंगे और गांधी जी के विचारों से अधिक हमे अपने इधर होने वाले अनुभवों से लाभ पहुँचेगा। जब कि हमें वैधानिकता को गलत रास्ते से बचाने वाला, और हममें शान्तिमय साधन के इस काल में क्रान्तिकारी दृढ़ता और रणकौशल उत्पन्न करने वाला, जनता को सरकार के विरुद्ध सीधे संघर्ष मे आकर्षित कर उसे जगाने वाला, एक महत्त्वपूर्ण अस्त्र, बल्कि एकमात्र अस्त्र सत्याग्रह ही जान पड़ता है तो यह अनिवार्य ही है कि पार्टी के वर्तमान कार्यक्रम मे इसे प्रमुख स्थान देना चाहिए। इसे हम इस काल मे भारतीय समाजवाद की गत्यात्मक रणनीति कहें तो अनुचित नही होगा। जो भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सत्याग्रह को गौण बनाता है, वह निश्चय ही उस भ्रम को उत्पन्न करने वालों में से एक है जिनके दिमाग में 'पार्लियामेण्टरी डेमोक्रेसी' का नक्शा भरा हुआ है।

यह एक आश्चर्य की बात है कि यद्यपि इन तीन वर्षों में पार्टी की ओर से छोटे-बड़े कई सत्याग्रह हुए लेकिन अभी तक इनका कोई वैज्ञानिक विश्लेषण पार्टी कार्यकर्ताओं के लाभ और पथ-प्रदर्शन के लिए प्रस्तुत नही हो सका। आचार्य जी ने इस कमी को पूरा करने के लिए सत्याग्रह पर एक लेख लिखा। लेकिन उसमें इधर के पार्टी सत्याग्रहों का जिक्र नही था बल्कि सत्याग्रह की एक 'ऐब्स्ट्रैक्ट' समालोचना थी। सत्याग्रह की पद्धति को वर्ग-संघर्ष की वैज्ञानिक आवश्यकता से संयुक्त करने के लिए इन प्रश्नो का उत्तर मिलना अत्यन्त आवश्यक है। कांग्रेस से अलग होने के बाद पार्टी ने भारत में इधर कितने सत्याग्रह किये? उनका प्रारम्भिक वातावरण और उद्वेग की प्रेरणा क्या थी? इस सम्बन्ध मे विभिन्न वर्गों के तनाव का क्या प्रदर्शन हुआ? सफलता मिली तो क्यो? विफलता मिली तो क्यों? जब तक इन प्रश्नों के सुनिश्चित उत्तर पर सत्याग्रह का वैज्ञानिक वर्ग-आधार नही बन जाता तब तक हमारे सत्याग्रहों में बचपन और अपव्यय ही अधिक रहेगा और सत्याग्रह उठते हुए समाजवाद की सचेतन ज्वाला न होकर बुझते हुए गांधीवाद की रह रहकर भभक उठनेवाली चिनगारी ही बनकर रह जायगा। पार्टी के चुनावों की जीत-हार का विश्लेषण काफी किया गया है, लेकिन उसके मुकाबले में सत्याग्रह के विषय में मौन ही अधिक दिखलायी पड़ा है। मद्रास कान्फ्रेन्स में साथी जयप्रकाश और साथी मधुलिमये की रिपोर्ट ने भी इस कमी की ओर ध्यान नहीं दिया।

इस संकेत का मतलब यही है कि व्यावहारिक क्रिया और सैद्धान्तिक

विश्लेपण में हम जब तक चुनाव को अधिक महत्त्व देते रहेंगे तब तक इंग्लैण्ड, फ्रान्स, स्वीडन आदि की सोशलिस्ट पार्टियों की 'शान्तिमयता' से अपनी 'शान्तिमयता' का गुण भेद प्रकाशित करने मे सफलता कठिन है और पार्टी के साथियों को डेमोक्रेटिक सोशलिज्म में उस चुनाव की गन्ध पाने का काफी मसाला मिलता रहेगा जिसे आचार्य जी पसन्द नही करते। भ्रम उत्पन्न होने का यह चौथा कारण है।

इसके अलावा भ्रम उत्पन्न करने वाला एक पांचवां और काफी खतरनाक कारण है जिसका विरोध दृढता से करना आवश्यक है। वह यह है कि सशस्त्र क्रान्ति या शान्तिमय तरीकों के प्रयोग के सम्बन्ध मे ऐब्स्ट्रैक्ट या कल्पनावादी दृष्टिकोण। यह दृष्टिकोण इन दोनों के बीच एक आध्यात्मिक या नैतिक ऐब्सल्यूटिज्म को स्थापित करना चाहता है और क्रान्ति की आवश्यकता और सफलता को वर्ग-संघर्ष के वैज्ञानिक संचालन से सम्बद्ध न करके आदर्शवाद के थोथे आधार पर निर्भर करना चाहता है। मैंने शुरू में ही संकेत किया था कि इस प्रकार की गलती डेमोक्रैटिक सोशलिज्म और डेमोक्रैटिक मीन्स के एक समझने से उत्पन्न हो सकती है और इसीलिए शांतिमय शब्द की आवश्यकता का अनुभव हुआ। पार्टी की नीति घोषणा इस सम्बन्ध मे स्पष्ट है। सशस्त्र जनक्रांति और शान्तिमय तरीकों के बीच हमने जो आज दूसरा रास्ता चुना है इस सम्बन्ध मे नीति-घोषणा का कथन है, "देश की पूरी परिस्थिति और भावी सम्भावनाओं को ध्यान मे रखते हुए ऐसा लगता है कि जनतान्त्रिक तरीकों का ही आज पालन करना सही है, केवल यही तरीके प्रभावशाली हो सकते हैं।" आचार्यजी कहते हैं, "समाजवादी सदा समर्थ उपायों का अनुसरण करता है। जो उपाय जिस समय प्रभावशाली होता है उसी से वह काम लेता है।" इस तरह यह स्पष्ट है कि दोनो रास्तों में एक रास्ते को चुनने के लिए जो विचार निर्णायक है वह है उस रास्ते की प्रभावशालिता और सामर्थ्य। यह एक वैज्ञानिक और शुद्धत. रणकौशल सम्बन्धी दृष्टिकोण है। इसमें आध्यात्मिकता और नैतिकता का सवाल नहीं उठता और न यही भावना काम करती है कि अपने में कोई एक रास्ता डेमोक्रैटिक सोशलिज्म के अधिक निकट है। खतरे दोनों ही रास्तों मे हैं और दोनों ही रास्तो में प्रभावशालिता है। यह भी नहीं है कि हम भरसक एक विशेष प्रकार के रास्ते की तरफ अधिक झुके हुए हैं और उसे प्रयोग करेंगे : जब अन्यान्य कारणो से मजबूर हो जायेंगे तो फिर दूसरे रास्तों को चुनेंगे। जब किसी पार्टी का किसी विशेष रास्ते से इतना आदर्शवादी लगाव हो जाता है कि वह उसके आगे भौतिक परिस्थितियों

को भूलने लगती है तो उसका वही परिणाम होता है जो जर्मनी की सोशल डेमोक्रैटिक पार्टी या हिन्दुस्तान की कम्युनिस्ट पार्टी का हुआ। इसी को मैंने ऊपर आध्यात्मिक नैतिक ऐब्सोल्यूटिज्म कहा है।

अतः यह आवश्यक है कि किसी रास्ते को चुनने के साथ-साथ, गलत मोड़ से बचने के लिए बराबर भौतिक सामाजिक परिस्थितियों को सामने रखा जाय। इसे बराबर याद रखना होगा कि हम अपने रास्तों का चुनाव किसी आदर्शवादी कल्पना में नहीं करते बल्कि ऐसे भौतिक-समाज मे करते हैं जिसमें वर्ग-संघर्ष है, वर्गों का गत्यात्मक सम्बन्ध है, राजनीतिक दल हैं और इतिहास का प्रवाह है। दूसरे यह कि जिस रास्ते को हमने चुना है उसकी सीमाओं और सम्भावनाओं पर जोर देना जरूरी है। ऐतिहासिक परिस्थिति स्थिर नही है। उसमें गति ही नही, एक निश्चित दिशा भी है। इसलिए किसी रणनीति या रास्ते के चुनने के बाद उसके खतरो से पार्टी कार्यकर्ताओं को आगाह न करना भी भ्रम और बचपने की गुंजायश को बड़ा बनाना है।

इस दृष्टिकोण से मैंने जिलों से निकलने वाले कई पार्टी या पार्टी-कार्यकर्ताओं के छोटे-मोटे साप्ताहिको को देखा तो मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि बहुत से साथी सामाजिक ऐतिहासिक परिस्थिति तथा शान्तिमय उपाय के पारस्परिक सम्बन्ध और शान्तिमय उपायों की सीमाओ के विषय में भ्रम और ऐब्सल्यूटिस्ट धारणाओं से प्रभावित हैं। इन अखबारो का महत्त्व बहुत बड़ा है क्योंकि अक्सर यही अखबार हैं जो जिलों मे कार्यकर्ताओं की विचार-धारा का निर्माण करते हैं—खासतौर से उस समय जब 'जनता' और 'संघर्ष' का प्रचार व्यापक नहीं है। शान्तिमय राजनीति की इस दृष्टि में यह धारणा अक्सर देखने को मिली है कि डेमोक्रैटिक सोशलिज्म का असली उद्देश्य शान्तिमय उपायों का हर हालत में अवलम्बन करना है, बहुत—मजबूर हो जाने पर ही हम सशस्त्र क्रान्ति की बात सोच सकते हैं, यद्यपि यह रास्ता असाधारण और खतरों से भरा हुआ है। अफसोस की बात है कि आचार्य जी ने इस भ्रम की ओर ध्यान नहीं दिया है। मैं उनका ध्यान इस ओर आकर्षित करना चाहूँगा। आचार्य जी कहते हैं, "जब तक जनतन्त्र की रक्षा होती है और नागरिक अधिकारों में हस्तक्षेप नही होता तब तक शसस्त्र क्रान्ति की कोई आवश्यकता नही है।" यह एक बहुत व्यापक निष्पत्ति है। यदि पार्टी के साथी इसके बाद डॉ० लोहिया की घोषणा को पढ़ें—"स्वदेशी अथवा विदेशी पूँजी-वादी शोषकों के विरुद्ध आन्तरिक क्रान्तियों मे भी हत्या के अस्त्रों का

वास्तविक समाजवाद और जनतन्त्र की दृष्टि के लिए अनुपयुक्त है" ('समाजवाद और लोकतन्त्र' जनवाणी सितम्बर ५० पृष्ठ १६८) और फिर उनकी धारणाओं में शान्तिमय उपायों के पक्ष में एक प्रत्ययवादी व्यतिक्रम उत्पन्न हो जाय, और इस प्रकार उनकी समझ में डेमोक्रैटिक सोशलिज्म का मौलिक रूप विकृत हो जाय तो इसके लिए जिम्मेदार कौन होगा ? आध्यात्मिक ऐब्सोल्यूटिज्म के जिस खतरे का मैं संकेत कर रहा हूँ उसकी परिधि कितनी बड़ी और चिन्ताजनक है, इसके उदाहरण के लिए मैं डॉ० लोहिया के लेख 'समाजवाद और लोकतन्त्र' की ओर ध्यान आकर्षित करूँगा, जो जनवाणी के सितम्बर १६५० वाले अंक में छपा है और जिसका जिक्र मैंने ऊपर किया। काफी पैनी बहस के बाद साथी लोहिया कुछ महत्त्वपूर्ण परिणामों पर पहुँचे हैं। वे ये है—"नये समाजवादी अथवा लोकतांत्रिक विश्व का निर्माण शस्त्रों के बल पर नहीं हो सकता" और अन्त में—"पूँजीवादी शासन अथवा अधिनायक तन्त्र के दूसरे रूपों से मानव जाति को अहिंसामय संग्राम ही बचा सकता है।" मेरा उद्देश्य इस समय साथी लोहिया के लेख का विश्लेषण करना नहीं है इसलिए संक्षेप में केवल दो उद्धरण पेश करूँगा जो पार्टी लाइन को स्पष्ट करें। (१) 'इसलिए इसे साफ-साफ समझ लिया जाना चाहिये कि यह धारणा रखना कि केवल सशस्त्र क्रान्ति के द्वारा ही समाजवाद की स्थापना हो सकती है, उतना ही अमार्क्सवादी है जितना इसकी घोषणा करना कि केवल शान्तिमय उपायों से ही यह काम हो सकता है'। (साथी जयप्रकाश की मद्रास कान्फ्रेंस की रिपोर्ट पृ० १३७), (२) 'जनतान्त्रिक उपायों का इस्तेमाल राज्यसत्ता पर अधिकार प्राप्त करने के लिए वहीं हो सकता है जहाँ पूरा राजनीतिक लोकतन्त्र कायम हो और मजदूर वर्ग, किसान वर्ग तथा निम्न-मध्य वर्ग परिपक्वता के एक ऊँचे स्तर पर पहुँच गये हों और उन्होंने अपनी एक शक्तिशाली राजनीतिक पार्टी बना ली हो। जहाँ ये परिस्थितियाँ न उपस्थित हों वहाँ जनतांत्रिक उपाय (मेरे शब्दों में शान्तिमय और साथी लोहिया के शब्दों में अहिंसामय—लेखक) निश्चय ही प्रभावहीन और अपूर्ण और कभी-कभी खतरनाक होंगे।'—(पार्टी की नीति-घोषणा, दूसरा अध्याय, पैरा ३२)

यह एक दिलचस्प बहस होगी कि साथी लोहिया की धारणा का पार्टी की नीति-घोषणा से भेद मौलिक है अथवा नहीं।

अन्त में संक्षेप में डेमोक्रैटिक सोशलिज्म नाम की ओर भी संकेत करना चाहूँगा। शायद सोशलिज्म के पहले डेमोक्रैटिक इसलिए लगाया गया कि

मतलब कुछ ज्यादा साफ हो जाय। सोशल डेमोक्रैसी तो रखा नहीं जा सकता था क्योंकि उसके साथ योरप का इतिहास था जिससे हम अपने को अलग रखना चाहते थे। लेकिन मुझे उलझन होती है यह सुनकर कि डेमोक्रैटिक सोशलिज्म नया नाम है, या उसमें पुरानी खराबियों का इतिहास नहीं है। यह सर्वविदित है कि इङ्गलैण्ड की लेबर पार्टी अपने लक्ष्य को डेमोक्रैटिक सोशलिज्म कहती है। कान्टिनेन्ट की पार्टियां भी अब सोशल डेमोक्रैसी से अधिक डेमोक्रैटिक सोशलिज्म का ही नाम लेती है। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि योरप की पार्टियों को डेमोक्रैटिक सोशलिज्म से हमारा डेमोक्रैटिक सोशलिज्म भिन्न है। उदाहरणतः इङ्गलैण्ड की लेबर पार्टी वर्ग-संघर्ष और क्रान्ति की आवश्यकता में ही विश्वास नहीं करती और मार्क्सवाद विरोधी है। यदि *अपने लक्ष्य को भ्रम से बचाना है तो हमें योरप के डेमोक्रैटिक सोशलिज्म से* अपने डेमोक्रैटिक सोशलिज्म का भेद स्पष्ट करना पड़ेगा—कार्यक्रम और सामाजिक दर्शन दोनों ही के क्षेत्र में।

जितना ही हम आगे बढ़ेंगे लक्ष्य के प्रति दृढ़ आस्था आवश्यक और महत्वपूर्ण होती जायगी। लेकिन पार्टी कार्यकर्ताओं के दिमाग में जब तक भ्रम रहेगा, आस्था नहीं उत्पन्न होगी। जितना ही हमारे सामने डेमोक्रैटिक सोशलिज्म का लक्ष्य स्पष्ट होगा उतना ही हम अपनी नीति को उस 'प्रयोगवाद' से बचा सकेंगे जिसका जिक्र जयप्रकाश जी ने अपनी रिपोर्ट में किया है। पार्टी के साथियों के सामने मैं विनयपूर्वक प्रश्न करना चाहूँगा कि क्या परिस्थिति की यह आवश्यकता नहीं है कि—

(१) 'जनतान्त्रिक उपाय' बदलकर 'शान्तिमय उपाय' नाम रखा जाय?

(२) सत्याग्रह की टेकनिक का वर्ग-संघर्ष की पृष्ठभूमि में वैज्ञानिक विश्लेषण हो और उसके आधार पर हम उसे विकसित करें। न तो उसके महत्त्व को घटाया जाय न बढ़ाया जाय?

(३) शान्तिमय उपायों के सम्बन्ध में कल्पनावादी या आध्यात्मिक ऐब्सोल्यूटिज्म का विरोध किया जाय?

(४) हमारे डेमोक्रैटिक सोशलिज्म और लेबर पार्टी तथा योरप की अन्य पार्टियों डेमोक्रैटिक सोशलिज्म के भेद को—कार्यक्रम और समाज-दर्शन दोनों ही के विचार से स्पष्ट किया जाय?

यदि हाँ तो हम इस विषय में क्या कर रहे हैं?

विदेशी सहायता और देश पर उसका प्रभाव

इस बहस को सुनने के दौरान, बारम्बार एक प्रश्न दिमाग़ में आता रहा। वही प्रश्न आपके सम्मुख रखना चाहूँगा। मूलतः आपके सामने इस विदेशी सहायता के सिलसिले में दाता और भिखारी इन शब्दों की आवृत्ति हुई। बहस कुछ बनारस बनाम इलाहाबाद के अर्थशास्त्रियों के बीच में भी हो गई। लेकिन ऐसा मुझे लगा कि मूलतः इस वर्णन से कि सम्बन्ध दाता और भिखारी का है, दोनो ही सहमत हैं। बनारस के लोगों को शायद यह अखरता हो, इलाहाबाद के लोगों को नहीं अखरता। मगर इसके अलावा एक ओर इससे मिला-जुला शब्द एहसान और एहसान फ़रामोशी का भी इस्तेमाल हुआ है। और घुमा कर वह बात भी हमारे सामने रखी गयी कि यह जो हमें नाम का व्यक्ति यहाँ विचार कर रहा है, यह 'हम' अपने को एहसान के भीतर बंधि करके ही विचार करें और मैं बराबर यह सोचता रहा कि यह 'हम' कौन है ? मैं अगर कहूँ कि मैं मूलतः इस चीज से ही विरोध करता हूँ, विद्रोह करता हूँ कि मैं उस 'हम' के साथ अपने को एकाकार समझूँ जिसका काम एहसान और एहसान फ़रामोशी के वर्णन में फँस जाना है।

मुझे ऐसा लगता है कि सांस्कृतिक दृष्टि से शायद विदेशी सहायता का एक बहुत बड़ा परिणाम यह हुआ है कि ख़ामख़ाह मेरे जैसे व्यक्ति को एक इस विचित्र प्रकार के 'हम' के साथ एकात्म होने लिए बाध्य किया जा रहा है। मैं चाहूँगा कि आप इसको इस दृष्टि से क्यों नही विचार करते कि एक दुनिया है। और अगर मेरे सामने अमेरिका का कोई लेखक या सांस्कृतिक कार्यकर्ता या कलाकार या विचारक या अर्थशास्त्री खड़ा हो तो मैं उसके सामने इस तरह नही बात करना चाहता कि जैसे मैं 'हम' हूँ और वह 'वह', बल्कि क्या मैं कोई ऐसी विधा निकाल सकता हूँ कि हम दोनों दुनिया के बारे में बात करें। और शायद जो विदेशी सहायता पिछले १५ वर्षों में हिन्दुस्तान में आयी है उसका सबसे बड़ा परिणाम यही निकला है कि दुनिया को, पूरे संसार को आत्मसात् करके विचार करना असम्भव हो रहा है।

यूरोप में १८वी शताब्दी में इस तरह का चिन्तन कुछ समय के लिए था

जब कि विचारक अर्थशास्त्री हो या सांस्कृतिक कार्यकर्ता हो, चाहे इतिहासवेत्ता, वह राष्ट्रीयता या राष्ट्रों के बीच में जब बात करता भी था तो अपने को विश्व का एक नागरिक मान कर करता था। आज जिस रूप में विदेशी सहायता है वह ऐसा लगता है कि दाता और भिखारी, एहसान और एहसानफ़रामोशी इन कटघरों मे बाँध कर विश्व नागरिक होने से हमें ही नही अमरीका के विचारक को रोकती है। इसलिए मुझे लगता है कि यह बहुत बड़ा खतरा है। इसे मैं आधुनिकीकरण नही कहता, पश्चिमीकरण भी नही कहता, क्योंकि आज की दुनिया इस तरह की है ही नही कि पश्चिम और पूर्व में बाँट कर विचार किया जाय, बल्कि जब मैं पूरी दुनिया की दृष्टि से सोचता हूँ तो मैं इसको संसार का सामंतीकरण ही देखता हूँ। मैं जिस स्थिति में हूँ यह सही है कि मैं प्राथमिक रूप में भारत का नागरिक हूँ, लेकिन मैं इस प्रवृत्ति या इस बन्धन को तोड़ कर निकल जाने की कोशिश कर रहा हूँ। जब विश्व नागरिक के रूप में सोचने की कोशिश करता हूँ तब मुझे लगता है कि क्या मैं आज अगर अमरीका का लेखक होता, अगर मेरा जन्म हिन्दुस्तान में न हुआ होता तो क्या मुझे इसी तरह सोचना पड़ता कि हिन्दुस्तान के लोग भूखों मर रहे हैं, उन्हे हम खाना देते हैं और तो यह हिन्दुस्तान के लोगों के लिए एहसान या एहसान-फ़रामोशी का सवाल है या दाता और भिखारी का सम्बन्ध है।

जिस तरह मार्क्स ने सोचा या जिस तरह अन्य विचारकों ने सोचा, मैं किसी एक का नाम नही लेता, पूरे संसार की प्रवृत्ति किस तरफ़ है, उसकी ओर से भी कोई बोलेगा, और क्या इसकी ओर से किसी का बोलना या चिन्तन करना आज की दुनिया के लिए आवश्यक है? मैं नही मानता हूँ कि मेरे लिए यह कोई ऐसा बन्धन बना दिया गया है कि अमरीका में यदि संकट है तो सिर्फ़ अमरीका वाले सोचें और रूस में संकट है तो सिर्फ रूस वाले सोचें या हंगरी में संकट है तो सिर्फ़ हंगरी वाले सोचें या हिन्दुस्तान मे अगर लोग भूखे मर रहे हैं तो हिन्दुस्तान वाले सोचें। क्योंकि एक समय जब हिन्दुस्तान आजादी के लिए लड़ रहा था, तो यह सही है कि आज हम उसको राष्ट्रीयता नाम दें, लेकिन चाहे गाँधी जी, चाहे जवाहरलाल और चाहे पश्चिम के विचारक या रूस के सब इस दृष्टि से नही सोचते थे कि यह हिन्दुस्तान के स्वार्थ का सवाल है। हिन्दुस्तान अगर आज़ाद नही होगा तो हिन्दुस्तान का स्वार्थ पूरा नही होगा। बल्कि लगता था कि सम्पूर्ण मानवता का सवाल है।

आज देशों का आर्थिक विकास सम्पूर्ण मानवता का सवाल न रह कर छोटे-छोटे दायरों का सवाल हो गया है। मैं समझता हूँ कि इसमें जिस पैटर्न से जिस रूप में विदेशी सहायता आ रही है यह उनका एक बहुत महत्वपूर्ण कारण है। मैं इसमें अपने को जितना लॉयल इस ४० करोड़ के लिए समझता हूँ उतना ही लॉयल बाकी संसार के लिए भी समझता हूँ या कम-से-कम कोशिश करता हूँ।

आज मैं इस क्षेत्र में हूँ इसलिए यहाँ निगाह मेरी जाती है, लेकिन इस समस्या को मैं भारत की समस्या नहीं मानता और कम-से-कम आप भी न मानें। अगर एक समय हमने यह देखा कि इंग्लिस्तान का मजदूर भूखों मरता है तो हिन्दुस्तान के आदमी को उस पर प्रस्ताव पास करने की जरूरत है, अगर अमरीका का मजदूर शोषित है तो यह हमारे लिए चिन्ता का विषय है, तो आज इसको भी संसार की समस्या के रूप में देखना है।

मैं सोचता हूँ कि अगर अमरीका ने इस दृष्टि से सोचना बन्द कर दिया है तो आवश्यक नहीं है कि हम भी इस दृष्टि से सोचना बन्द कर दें। अगर हमारी राष्ट्रीय स्थिति ऐसी है कि शायद सम्पूर्ण संसार की ओर सोचने का सेहरा हमारे ही सर आने वाला है—अमरीका या रूस ने इस पर सोचना बन्द कर दिया है, तो हमें कलेजा चौड़ा करके यह स्वीकार कर लेना चाहिए। मैं समझता हूँ कि इस दृष्टि से सोचने पर विदेशी सहायता का जो रूप है, दाता और भिखारी, एहसान और एहसानफ़रामोश, जो 'हम' और 'वे' इन कटघरों में दुनिया को बाँटती है तो जरूर खतरनाक है। सांस्कृतिक और बौद्धिक दृष्टि से बहुत ही खतरनाक है। कुछ लोगों का स्वार्थ, या कुछ थोड़े से वर्गों का स्वार्थ या उन ४० करोड़ का भी स्वार्थ सध जाय तो बात दूसरी। इस दृष्टि से यह जरूरी है कि विदेशी सहायता को संसार व्यापी सहायता में बदला जाय। अवरुद्ध देशों की सहायता सं० रा० संघ या किसी और अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के माध्यम से हो न कि राष्ट्रों की आपसी सुविधाओं से। ऐसा सुझाव डॉ० अस्थाना ने दिया है। इस सुझाव के पक्ष में संसार-मत तैयार करना चाहिए।

□□

प्रशासकों, अध्यापकों और छात्रों में अलगाव और खाइयाँ

मैं कभी-कभी सोचता हूँ कि यदि विश्वविद्यालय में व्यापक छात्र-हड़तालें न हों, या पुलिस और विद्यार्थियो के बीच मुठभेड़ न हो, तो बहुतो के लिए विद्यार्थियों की अनुशासनहीनता जैसी समस्या के बारे में सोच-विचार करने की जरूरत ही न रह जाए। कुछ ऐसा मान लिया गया है कि अनुशासनहीनता का मतलब हुआ, हड़ताल। हड़ताल नहीं तो अनुशासनहीनता की समस्या नही। सरकारी मंत्री, पुलिस अफसर और प्रशासन के नौकरशाह हड़ताली अनुशासनहीनता की बात सिर्फ इसलिये उठाते है कि हड़तालों और मुठभेड़ों से सरकार की बदनामी होती है, या अफसरों की नींद में खलल पडता है। बदनामी से बचने के लिए ये सरकारी लोग दोष अध्यापकों के मत्थे मढते हैं ताकि बदनामी अध्यापकों की हो, सरकार की नही। प्रचार की होड़ में अध्यापक टिक नही पाते। फलस्वरूप औसत आदमी, जो विश्वविद्यालयों के बारे में बहुत कम जानता है, यही समझने लगता है कि इस सारे कुहराम की कुंजी अध्यापकों के पास है। सरकारी लोगों को इससे संतोष मिल जाता है, लेकिन हल नही निकलता। सिलसिला जारी रहता है।

सबसे पहले मैं एक सीधा सवाल पूछना चाहता हूँ। अगर मैं मान भी लूँ कि एक अध्यापक के नाते मेरा नैतिक प्रभाव विद्यार्थियों पर है, तो मेरा कर्तव्य यह कैसे सिद्ध होता है कि मैं उस नैतिक प्रभाव का इस्तेमाल सरकार की बदनामी या अनिद्रा से बचाने के लिए करूँ ? जो सरकार का सिरदर्द है उसे सरकार झेले। इसमें अध्यापक के दोष-अदोष का सवाल कैसे खड़ा होता, है ? मुझे जहाँ तक दिखाई देता है अनुशासनहीनता की प्रमुख समस्या हड़तालें नहीं है, न यही कि विद्यार्थियों की टकराहट पुलिस से हो जाती है। फ्रांस में अभी जो हुआ, उसे अनुशासनहीनता की समस्या वे ही कहेंगे जिनके दिमाग तंग हो चुके हैं। इन टकराहटों से अगर भारत का नौजवान अधिक तना हुआ, गैर दब्बू और जिद्दी होकर निकले, तो मैं इसे राष्ट्रीय चरित्र के लिए शुभ ही मानूंगा। बड़े पैमाने पर हड़तालें और संघर्ष वे भट्टियां हैं, जिनमें राष्ट्र पकते

हैं। इतिहास प्रमाण है। अफसरों की अनिद्रा इतिहास के मुकाबिले में बहुत छोटी चीज है।

हड़ताली अनुशासनहीनता से भिन्न एक दूसरी अनुशासनहीनता है, जो मुझे ज्यादा चिंतित करती है। जैसे लड़कियों से छेड़खानी करना, बिना मेहनत इम्तहान पास करने के लिए चापलूसी, फरेब या आन्दोलन का सहारा लेना, निहत्थे अध्यापकों पर हमले करना इत्यादि। इसी कोटि में एक और गहरे रोग का जिक्र भी करूंगा। लगभग दो वर्ष पहले इलाहाबाद के एक छात्रावास मे घुस कर पुलिस ने लड़कों की पिटाई की थी। उस कृत्य की निंदा लोगों ने की। एक वर्ष बाद उसी छात्रावास में एक और घटना घटी। एक हरिजन लड़के ने जो छात्रावास मे रहता था, अपने कमरे में डॉ० भीमराव अम्बेडकर की तस्वीर लगाई। इस पर द्विज लड़कों ने उस तस्वीर को फाड़ डाला, होली जलाई, लड़के को मारा-पीटा अलग से। इस घटना से विद्यार्थी या गैरविद्यार्थी किसी समाज में कोई हलचल नही मची। प्रशासकों का रुख भी मामले को पी जाने का ही था। क्रांतिकारी विद्यार्थी नेता भी द्विजों का बहुमत देख चुप रह गये। सुनता हूँ बाद मे यह तय किया गया कि आइंदा हरिजनों को छात्रावास मे भरती ही न किया जाये, ताकि ऐसी घटना फिर न घटे। यों भी छात्रावासो में द्विज और शूद्र के बीच लगभग दक्षिणी अफ्रीका का-सा अलगाव है।

नौजवानों की पीढ़ी जब सरकार के लिए सिरदर्द बनती है तो मुझे देश के भविष्य के बारे मे निराशा नही होती। अंधकार इस तरह की घटनाओं से दिखता है। सदियो से भारत का ऐसा घिनौना मन बन गया है कि ऊपर वालो से पिटता है, तो नीचे वालों पर कसर निकालता है। इस सत्य का साक्षात्कार कब होगा कि हरिजनों को पीटना या छात्रावास में घुसने न देना और पुलिस द्वारा पीटा जाना एक ही खंडित मनोबल के दो पहलू हैं ?

अनुशासन की बहस मे इन पहलुओं पर प्रकाश क्यों नही पड़ता ? इस ज्यादा गंभीर गिरावट से सरकारो और अफसरो के बदनाम होने का सीधा खतरा नही है, शायद इसीलिये प्रचारित बहसो में या तो इन गैर हड़ताली समस्याओ का जिक्र नही होता, या होता भी है तो यों ही-सा होता है।

इस सिलसिले में छात्रो और अध्यापको के बीच की खाई का जिक्र भी किया जाता है। सच यह है कि विश्वविद्यालयो में एक नही दो खाइयां हैं। जितनी चौड़ी खाई अध्यापक व विद्यार्थी मे है, उससे ज्यादा चौड़ी खाई

अध्यापक और प्रशासक वर्ग के बीच है। यह दूसरी खाई दिन-ब-दिन अधिक चौडी और अधिक महत्त्वपूर्ण होती जा रही है। विश्वविद्यालय समाज के दो नही, तीन अंग है—प्रशासक, अध्यापक और विद्यार्थी। इन तीनो अंगों का अलगाव बढ़ता जा रहा है। इस रंगमंच पर प्रमुख पात्र प्रशासक हैं, जो मालिक की भूमिका अदा करते हैं। उनके मुकाबले में विद्यार्थी हैं, जो विद्रोही हैं। दोनों पाटों के बीच साबुत न बच पाने वाले अध्यापक हैं, जो न मालिक हो पाते है, न विद्रोही हो पाते हैं।

इधर उप-कुलपतियों में सरकार की बेचैनी को अपनी बेचैनी मानने की प्रवृत्ति विकसित हुई है। उत्तर प्रदेश मे कुछ वर्षों से राज्यपाल की अध्यक्षता में हर साल उप-कुलपतियों का शिविर होता है। राज्यपाल विधानतः सभी विश्वविद्यालयो के कुलपति है। इस शिविर के दो परिणाम निकलते है। एक, उप-कुलपतियों का एक विश्वविद्यालय प्रशासक वर्ग बनता जा रहा है, जिसकी जड़ें अपने संस्थान में नहीं, बल्कि अपने वर्ग या अपने जैसे अफसर वर्ग में होती हैं। दूसरे, महत्त्वपूर्ण फैसले इस शिविर में अध्यापकों और छात्रो से दूर अफसरशाही की छाया में लिये जाते हैं। अब लगभग होता यह जा रहा है कि उप-कुलपतियों और अध्यापकों का रिश्ता सहयोगी का न होकर कलक्टर और पटवारी का होता जा रहा है। उप कुलपतियो को इस रिश्ते मे आराम महसूस होता है। और अध्यापकों को ? अभी तो उनमें कभी-कभी घुटन की अनुमति दिखती है। लेकिन सरकारी चक्र ऐसा ही चलता रहा, तो उन्हें भी अपेने पटवारीपन में मजा आने लगेगा। 'हमें किसी व्यवस्था में डाल दो, हम जी लेंगे।'

यह खाई किस प्रकार की है और अध्यापको को किस स्थिति में छोड़ती है, इन पर प्रकाश डालने के लिए एक घटना का उल्लेख करूँगा। पिछले वर्ष इलाहाबाद में एक लड़की को मोटर गाड़ी से दिन-दहाड़े उठा ले जाने की कोशिश हुई। कोशिश असफल रही लेकिन सनसनी काफी हुई। अखबारों में कई दिन छपा। मैंने उप-कुलपति से कहा कि अध्यापकों की एक बैठक करें जिसमे अनुशासन की पूरी समस्या पर खुलकर विचार हो। सबकी नैतिक हिस्सेदारी के साथ कुछ फैसले लिये जायें और सब मिलकर सक्रिय हों, मैंने अपना व्यक्तिगत सहयोग देने का वचन दिया। संयोग से मैं अपने विश्वविद्यालय के अध्यापको की संस्था, टीचर्स फोरम का अध्यक्ष भी था। मैंने उन्हें अन्य सदस्यो के सहयोग का आश्वासन भी दिया। लेकिन उप-कुलपति ने विचार-गोष्ठी बुलाने से इनकार किया, और इस तरह के नैतिक सहयोग या तत्परता की जरूरत भी नही समझी।

तब से मैं अपने इस अनुभव पर सोचता रहा हूँ। क्या मैंने सहयोग की बात उठाकर अनधिकार चेष्टा की? जिस माहौल मे मैं रह रहा हूँ, उसकी प्रवृत्ति क्या है? क्या इस माहौल में 'सहयोग' या 'नैतिक अनुबन्ध' जैसे शब्दों का कोई अर्थ भी रह गया है? अगर फिर इसी तरह की घटना हो, तो क्या मुझे नैतिक बेगार करने के लिए अपने को फिर प्रस्तुत करना चाहिये या चुप बैठना चाहिये? व्यक्ति का कर्त्तव्य क्या है? क्या इस विश्वविद्यालय का मेरे लिये कोई नैतिक अस्तित्व है भी, या यह महज तनख्वाह, तरक्की और तमाशे की चीज है? यदि मैंने विद्यार्थियों की हड़ताल तोड़ने में नैतिक सहयोग का आश्वासन दिया होता तो क्या प्रशासन की वही प्रतिक्रिया होती, जो इस गैर-हड़ताली प्रश्न पर हुई?

हड़ताली अनुशासनहीनता स्वभावतः उन लोगों की दृष्टि में प्रमुख है, जो हर समस्या का महत्त्व राष्ट्र हित से नहीं, अपने सिरदर्द से आँकते हैं। लेकिन इस समस्या की जड़ मे भी दो खाइयां हैं और कुछ पाखण्ड भी। पिछली गर्मियों में नैनीताल मे राज्यपाल की अध्यक्षता में उप-कुलपतियों की एक बैठक हुई। वहां तय किया गया कि इस साल फीस बढ़ाई जाये। सब जानते है कि फीस बढ़ी नही कि छात्रों की ओर से जोर का विद्रोह होगा। मजे की बात यह है कि उन्ही उप-कुलपतियों ने नैनीताल से लौटकर अपने यहाँ फीस बढ़ाने का फैसला अभी तक नही किया। लेकिन मेरे मन में जो प्रश्न घूमता है, वह यह है कि जब ये कुलपति पर्वत-शिखरों पर प्रस्ताव स्वीकार कर रहे थे, क्या वे तब भी समझ रहे थे कि लौटकर वे उन्हें लागू नही करेंगे? फिर इस तमाशे का मतलब क्या है? सरकार फीस बढ़ाना चाहती है, राजाज्ञाएँ भेजती है, बशर्ते कि जिम्मेदारी उप-कुलपतियों के सिर पर पड़े। उप-कुलपतियों की हिम्मत न प्रस्ताव को ठुकराने की है, न लागू करने की है। वातावरण गरम होता जाता है।

इस चक्र में एक अध्यापक के रूप में मैं कहाँ हूँ? फैसला करते समय अध्यापकों से राय नहीं ली गई। नही तो वे यही कहते कि ऐसा न किया जाए, अब अगर फीस बढ़ी, अनुशासन टूटा, हड़ताल हुई, गोलियाँ चली, विश्व-विद्यालय बन्द हुए, तो मेरा नैतिक कर्त्तव्य क्या होगा? जहाँ तक मेरी आवाज आयेगी, मैं यही कहूँगा कि हारी हुई काँग्रेसी सरकार विद्यार्थियों से पिछले चुनाव का बदला ले रही है और जंगली व्यवहार कर रही है। मैं द्रोणाचार्य को अपना आदर्श कभी नही मान सकता कि जिसका नमक खाया है उसकी ओर से लड़ूँ, सत्य चाहे जिधर हो।

इस विडम्बना के लिए कौन-सी खाई जिम्मेदार है? अध्यापकों और विद्यार्थियों के बीच की खाई या अध्यापकों या प्रशासक वर्ग के बीच की खाई? सौ में निन्यानवे हड़तालों में अध्यापक दोनों ओर से 'अनावश्यक' की कोटि में आते हैं, जिन्हें कोई भूमिका नाटक में नहीं दी गई है। टकराहट प्रशासकों और विद्यार्थियों के बीच होती है।

इस खाई के एक और पहलू का अनुभव सामने रखता हूँ। अध्यापकों को कसूरवार ठहराने के लिए अक्सर कहा जाता है कि अध्यापक क्लास मे नहीं जाते। इस तरह की चर्चा विश्वविद्यालयों के भीतर और बाहर भी होती है। प्रश्न यह है कि सिर्फ चर्चा ही क्यों होती रहती है, जाँच करके कुछ नतीजे क्यों नहीं निकाले जाते? जाँच करने पर शायद यह रहस्य खुले कि विद्यार्थियो को सबसे कम समय वे ही प्रोफ़ेसर लोग देते हैं, जो प्रशासन के अंग हैं। एक तो नियमत: प्रोफ़ेसर जितने घण्टे पढ़ाता है, उसके दूने रीडर और तिगुने लेक्चरार। मान्यता है कि शिक्षा संस्थाओं में यह सामन्तवाद 'अनुशासन' के लिए जरूरी है। फिर प्रोफ़ेसर के पास कमेटियाँ हैं, सफ़र हैं, परीक्षाएँ हैं—हफ़्ते में नियमित छह घण्टे पढ़ाने की नौबत नहीं आती। एक प्रोफ़ेसर के बारे में जानता हूँ, जिन्होने एक साल में कुल पैंतीस घण्टे पढ़ाया था। ये भी वे ऐसे कि उनके बगैर विश्वविद्यालय एक दिन चल नहीं सकता था। सच यह है कि वह व्यक्ति जो विश्वविद्यालय में आरम्भ करता है, सामान्यतः काम ठीक करता है। आदतें ऊपर से बिगड़ती हैं। यह समस्या ऐसी नहीं है जिसका हल न निकाला जा सके। लेकिन इसके लिए अध्यापक और प्रशासक वर्ग के बीच की खाई को कम करना पड़ेगा और मर्यादाएँ ऊपर से बाँधनी पड़ेंगी। यह अध्यापकों के लिए नहीं, प्रशासक वर्ग के लिए असुविधाजनक है। और सिर्फ चर्चा करके बदनामी का वातावरण गुमनाम अध्यापक के चारों ओर रच देना, सबके लिए आरामदेह है।

एक तर्क मेरी समझ में नहीं आता, कहा जाता है कि अध्यापकों और छात्रों के बीच अनुपात ठीक नहीं है। अध्यापकों की संख्या कम है, विद्यार्थी बहुत ज्यादा हैं। तथ्य सही है। अध्यापकों की ओर से भी यह बात दुहराई जाती है। वे सोचते हैं कि इसी तरह शायद उनकी संख्या बढ़ जाए। लेकिन अनुपात के असन्तुलन से पढ़ाई का स्तर गिरता है, यह तो समझ में आता है। यह भी समझ में आता है कि संख्या बढ़ने पर पढ़ाई बेहतर होगी और गैर-हड़ताली अनुशासनहीनता जो समाज को ज्यादा रोगी बनाती है, थमेगी। लेकिन हड़तालें कैसे रुकेंगी? क्या यह उम्मीद की जाती है कि ये बढ़े हुए '

अध्यापक सरकारी नीतियों का गुण गायेंगे ? मुझे शक है। एक खतरा जरूर दिखाई देता है। सम्भवतः बेरोजगारी, तरक्की रोक और हड़ताली अनुशासन-हीनता का डरौना दिखाकर विश्वविद्यालयों की बची-खुची विचार-स्वाधीनता भी खत्म कर दी जाये। सारे बुद्धिजीवी कतार में खड़े कर दिये जायँ, जैसा एशिया के अधिकांश मुल्कों मे है और हिन्दुस्तान मे भी कुछ प्रदेशों में है। कुछ उपकुलपति और अध्यापक, जिन्हें भारत में हर तरह की वैचारिक सृजनशीलता या अलीकवादिता से दिली नफरत है, शायद खुश होंगे। लेकिन तब सवाल गहरा होगा। सभ्यता, संस्कृति, जनतन्त्र ये सारे सवाल उसमें जुड़ जायेंगे।

यह खतरा वास्तविक है। उत्तर प्रदेश के राज्यपाल ने हाल में कई विश्वविद्यालयों की कार्य समितियों में कमिश्नरों को सदस्य नियुक्त किया है। जबान पर ताला लगाने की ओर और बौद्धिक वर्ग को अफसरशाही के सुपुर्द करने का यह नया कदम है। विद्यार्थियों ने इसका विरोध किया। इसका एक परिणाम तो फौरन निकला। इलाहाबाद विश्वविद्यालय की कार्यसमिति की पिछली दो बैठकें, दो ट्रक सिपाहियों की निगरानी में हुईं। अपने विश्वविद्यालय को, जहाँ अपने विद्यार्थी जीवन से लेकर उम्र की इस अधेड़ अवस्था तक गुजारी है, नये सिरे से देख रहा हूँ। यह नया इतिहास है, जो मुझसे परे निर्मित हो रहा है। शायद कल कक्षा मे व्याख्यान भी पुलिस की निगरानी में देना पड़े। अमरीका के मैकार्थी का नाम बहुत सुना था। सोचता हूँ भारत में मैकार्थी की क्या शक्ल होगी ? इस नयी परिस्थिति में नैतिक साहस की क्या आवाज होगी ?

कल अगर कमिश्नर के विश्वविद्यालय को दखल करने के प्रश्न पर विद्यार्थी सरकार से टकराते हैं, तो क्या मैं उन्हें रोकूँगा ? सवाल यह नहीं कि मेरा नैतिक प्रभाव कितना है, या मुझमें और विद्यार्थियों में खाई कितनी चौड़ी है। सवाल यह है कि जो मेरा नैतिक प्रभाव हो, जो कुछ भी मुझे और विद्यार्थियों को जोड़ता हो, उसका दबाव क्या कमिश्नर के पक्ष में पड़ेगा ? मेरा रोम-रोम इस अफसरशाही पुलिसगारदी नैतिकता के विरुद्ध प्रतिरोध करता है।

खाई बढ़ती जा रही है और बौद्धिक वर्ग अपने घर मे ही नपुंसक और लुंज-पुंज बनाया जा रहा है। और मैं फिर सोचता हूँ कि यह विश्वविद्यालय क्या है ? क्या सचमुच इसका कोई नैतिक अस्तित्व है, या यह महज तनख्वाह

और डिग्रियाँ बाँटने का दफ्तर है ? मुझे अपने विद्यार्थी जीवन की याद आती है, जब मैंने संकल्प किया था कि जो हो, सरकारी नौकरी नहीं करूँगा, ताकि अपने मन को स्वाधीन रख सकूँ। तब लगा था कि विश्वविद्यालय का एक बौद्धिक नैतिक अस्तित्व है। वह अस्तित्व प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है।

मुझे अपने विद्यार्थी जीवन की एक और घटना याद आती है। एम० ए० में पढ़ता था। उस समय उत्तर प्रदेश सरकार ने फीस बढ़ाई। विद्यार्थियों ने हड़ताल की। छठवाँ दिन था। मेरे कई साथी गिरफ्तार हो गये थे। मैं हड़ताल का नेतृत्व कर रहा था। मेरे परम आदरणीय गुरु प्रोफेसर एस० सी० देव उस समय प्रॉक्टर थे। मैं उनका अत्यंत प्रिय शिष्य था। मैं फाटक पर धरना दिये हुए था। प्रोफेसर देव फाटक पर आये। मैंने उनसे निवेदन किया कि हम हड़ताल पर हैं। आज आप लौट जाइये। वे लौट गये। बहुत दिनों के बाद जब मैं अंग्रेजी विभाग मे अध्यापक हो गया तो प्रोफेसर ने इस घटना का एक दूसरा पहलू भी मुझे बताया। उन्होंने बताया कि उस समय के उपकुलपति ने उनसे कहा कि साही आपका प्रिय शिष्य है। यदि आप दबाव डालें तो वह हड़ताल वापिस लेने के लिए राजी हो जायेगा। प्रोफेसर देव ने उपकुलपति को उत्तर दिया कि मैं प्रॉक्टर पद से त्यागपत्र दे दूँगा, लेकिन साही पर अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध जाने के लिए अपने नैतिक दबाव का दुरुपयोग नहीं करूँगा।

असल में, विश्वविद्यालय के सन्दर्भ में अनुशासनहीनता, यह शब्द ही गलत है। शायद हमारे दिमागों में अपने सन्दर्भ में भी अंग्रेजी के माध्यम से सोचने की जो गन्दी आदत पड़ गई है, उसी से यह शब्द निकला है। वरना सही शब्द मर्यादाहीनता होना चाहिये। अनुशासन शब्द ही एक शासक और एक शासित की कल्पना लेकर चलता है। सारी निरंकुश अफसरी का विष इस शब्द में है। इसके विपरीत मर्यादा ऊपर, नीचे, मध्य सबको बाँधती है। अनुशासन टूटने से किसी समाज का कुछ नहीं बिगड़ता, बल्कि कभी-कभी तो जिस समाज को बहुत अनुशासित रहने की आदत पड़ जाती है, वह सड़ने लगता है। समाज बिगड़ता तब है, जब मर्यादा टूटती है। अगर हम विश्वविद्यालयों में मर्यादाहीनता पर विचार करें तो एक नहीं, दोनों खाइयों के खतरे देख सकते हैं और जिस स्रोत से मर्यादा का उल्लंघन हो रहा है, उसको कब्जे में ला सकते हैं। अनुशासन का प्रेत उन्हीं को बाधित करता रहता है, जिन्हें निर्मित करना कुछ नहीं है, सिर्फ कुर्सी पर बैठकर हुक्म देना और आराम करना है। मर्यादाहीनता को लेकर बहस चलाने पर ठीक नतीजे निकलेंगे और शायद हल भी। लेकिन यह उन्हें कैसे भायेगा, जो बहस केवल अनुशासनहीनता तक सीमित रखना चाहते हैं ? □□

लोहिया और फ़र्रुख़ाबाद का उपचुनाव

डॉ० राममनोहर लोहिया क्या हैं ? क्या वे बौद्धिक विचारक है ? जन-नेता है ? सनकी हैं ? उन्मत्त अहंवादी है ? गुण्डे हैं ? स्त्रियानाम् प्रिय हैं ? क्रान्तिकारी भविष्यद्रष्टा हैं ? 'प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ' है ? सच्चे अर्थों में जनतन्त्र के हिमायती हैं ? तानाशाह हैं ? चिरन्तन सत्याग्रही हैं ? कटुभाषी दुराग्रही हैं ? या यह सब मिला कर या इन सबके अतिरिक्त कुछ और हैं ?

शायद ये सारे सवाल तब तक पूछे जाते रहेंगे जब तक लोहिया का कोई निश्चित सार्वजनिक चेहरा नहीं बन जाता । आज लोहिया का नाम सुनते ही आग बबूला हो जाने वाले साथी मिल जायेंगे । लेकिन इसमे भी कोई शक नहीं कि आज अपने साथियों के बीच इतना अटूट समर्थन प्राप्त करने वाला नेता भी शायद न मिले । उत्कट विरोध और उत्कट समर्थन के इस घोर संघर्ष के बीच उस सार्वजनिक चेहरे के निर्माण का काम कठिन हो जाना स्वाभाविक है । लेकिन खुद लोहिया को भी रह-रह कर अपनी कल्पित मूर्ति को खण्डित करने में मजा आता है—या यो कहे कि उन्होने अपने सार्वजनिक चेहरे को एक नये ढंग से गढ़ने का व्रत ले लिया है, उनके लिए खुद अपना चेहरा एक तरह की कसौटी है जिस पर वह भारतीय मानस को कसना चाहते हैं—क्या हिन्दुस्तान लोकप्रियता और लोक-समर्थन के बने बनाये साँचो के अतिरिक्त भी किसी अन्य मूर्ति को सहने के लिए तैयार होगा ? इस प्रयोग में चाहे उनका शिल्प हमेशा के लिए अधूरा रह जाय, चाहे उनके व्यक्तित्व, विचारों और पार्टी का कच्चा माल खंड-खंड हो जाय, वे बिल्कुल निर्मोही हैं ।

मुझे एक घटना याद आती है । १९५४ का साल लोहिया के जीवन में और हिन्दुस्तान के समाजवादी आन्दोलन मे निर्णयात्मक रहा है । लोहिया प्रजासोशलिस्ट पार्टी के शीर्षस्थ नेताओं में से थे । उत्तर प्रदेश मे नहर रेट बढ़ाये जाने के विरुद्ध प्रजासोशलिस्ट पार्टी ने सत्याग्रह का फ़ैसला किया था । फ़र्रुखाबाद में लोहिया टैक्स विरोधी भाषण देने के जुर्म मे गिरफ्तार किये गये । इलाहाबाद हाई कोर्ट में उनकी गिरफ्तारी के विरुद्ध हैबियस-कार्पस पेटीशन पेश किया गया । तीन दिन तक हाई कोर्ट के सामने लोहिया ने खुद

बहस की। तीसरे दिन उनकी रिहाई हो गयी और उनकी गिरफ्तारी का कानून अवैध घोषित हो गया। अखबारों में लोहिया की नाटकीय मुक्ति बडी चमक-दमक के साथ छपी थी। समाजवादी आन्दोलन में लोहिया लोकप्रियता के चरम शिखर पर थे। उनका संघर्षशील और तपस्वी चेहरा बन रहा था। जेल से छूटते ही अखबार वालों ने घेरा। किसी संवाददाता ने पूछा कि आगे आपका क्या कार्यक्रम है? लोहिया ने उत्तर दिया, "पिछले कई महीनो से संघर्ष और सत्याग्रह में व्यस्त रहा हूँ। फ़िलहाल कुछ दिन बम्बई के पास अरब सागर मे किसी छोटे से द्वीप मे अपने मित्रों के साथ छुट्टी और मौज में बिताऊँगा—विशेषत: अपनी महिला मित्रों के साथ।"

मुझे याद है इस वक्तव्य के छपने के दूसरे दिन इलाहाबाद के काफ़ी हाउस में बड़ी गरमागरम चर्चा रही। एक बुजुर्ग और सम्भ्रान्त प्रोफ़ेसर से, जो स्थानीय प्रजा समाजवादी दल के नेताओं में से थे और लोहिया के बड़े प्रशंसको मे से थे, किसी तरह लोहिया का यह वक्तव्य निगला नहीं जाता था। उन्हें लग रहा था कि रौ में लोहिया ने जैसे सत्याग्रह, जेल, त्याग, तपस्या इन सबको एक ही धक्के से ध्वस्त कर दिया। बारम्बार उनके मुँह से यही निकलता था : 'महिला मित्रो के साथ! क्या मतलब है इसका? हिन्दुस्तान कभी भी इसको बरदाश्त नही कर सकता। हिन्दुस्तान यूरोप नहीं है।' बाद में जब लोहिया को प्रजा सोशलिस्ट पार्टी ने निष्कासित किया और उन्हें मजबूरन एक अलग सोशलिस्ट पार्टी की नीव डालनी पड़ी, तो उक्त प्रोफ़ेसर लोहिया के बड़े समर्थक होते हुए भी, एक साथ उस नयी पार्टी में शामिल होने का साहस न एकत्र कर सके। लेकिन प्रोफ़ेसर कहीं टूट भी गये। कुछ दिनों तक प्रसोपा में बने रहने के बाद—फिर वह कांग्रेस मे शामिल हो गये और भीड़ मे खो गये।

लेकिन बीच में महिला मित्रों को लाकर खड़ा कर देना लोहिया का पागलपन या सिर्फ़ सैलानी तबीयत की रौ नहीं थी। इस वक्तव्य में गंभीरता थी, हठी गम्भीरता। इतिहास के संयोग ने लोहिया को फिर उसी फ़र्रुखाबाद मे पहुँचाया। और पिछली मई के उपचुनाव को जीतने के बाद, लोकप्रियता की लहर की दूसरी उठान के शीर्ष पर पहुँच कर लोहिया ने फिर कुछ वैसी ही बात कही। संवाददाताओ के पूछने पर कि आपके चुनाव में क्या विशिष्टता थी, उन्होंने उत्तर दिया, "मेरे विरोधियों का आरोप था कि मेरे समर्थन में जरूरत से ज्यादा महिलाएँ काम कर रही थी।" इन नौ वर्षों में लोहिया ने न सिर्फ़ स्त्रियों और पुरुषों की बराबरी के बारे में निरन्तर आन्दोलन किया,

बल्कि भारतीय समाज की यौन-नैतिकता के उन पाखण्डों पर भी सीधे चोटकर वक्तव्य दिये, जिनकी चर्चा का जोखम भी उठाने की हिम्मत लोकप्रियता के आकांक्षी बड़े-बड़े प्रगतिशील साहित्यिक और राजनीतिक महारथी नहीं करते। इसलिए शायद आज उनकी पार्टी में इस 'अनावश्यक' वक्तव्य पर चौंकने, चीख़ने और अन्त में टूट जाने वाले सम्भ्रान्त आचार्यगण नहीं होंगे—क्योंकि इस हठ के पीछे एक जो तुक है वह समझ में आ रहा है : लोहिया भारतीय सामाजिक जीवन के एक गम्भीर प्रश्न को उठा रहे हैं। आज बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में लोहिया भारतीय समाज को पंगु बनाने वाले उसी रोग की शल्य चिकित्सा कर रहे हैं, जिसका सूत्रपात उन्नीसवीं सदी के आरम्भ मे सती-प्रथा के विरोध में हुआ था। राममोहन राय ने हमारी करुणा को जगाया। उन्नीसवीं सदी के अन्त में उदारतावादी सुधारकों ने स्त्री-शिक्षा का व्यापक आन्दोलन करके स्त्रियों की सामाजिक उपयोगिता के आधार पर उस उन्मेष को एक कदम आगे बढ़ाया। गांधी-टैगोर युग ने नारी उद्धार का आधार हमारी संस्कारगत् पावन पूजा भावना को बनाया। स्त्रियाँ माताएँ और देवियाँ हो गयीं—श्रद्धा केवल श्रद्धा—और रामायण की पोथी की तरह पवित्र रंगीन कपड़े में लपेट कर हृदय के ऊँचे सिंहासन पर विराजमान कर दी गयी। इन तीन संचरणों के बाद लोहिया ने जो नया आग्रह किया है, वह निश्चय ही इस परम्परा की अगली कड़ी है। वस्तुतः स्त्री-पुरुष असमानता की जड़ मे अब तक प्रहार हुआ ही नही है। स्त्री का अधिकार इसलिए नही बनता कि वह हमारी दया की पात्र है या हमारे लिए उपयोगी है या केवल 'आँचल में दूध और आँखो मे पानी' लिये माता या देवी रूप है—बल्कि इसलिए कि स्त्री भी एक व्यक्ति है, जीवित, लालस, मांसल और आध्यात्मिक व्यक्ति—पुरुषों की ही तरह। 'महिला-मित्रों के साथ!···हिन्दुस्तान यूरोप नही है।' सम्भ्रान्त प्रोफ़ेसर की उलझन इसीलिए थी कि उन्होने इस केन्द्रीय प्रश्न का सामना करने से इन्कार कर दिया था। क्या स्त्रियो को मित्र रखने का अधिकार नही है? क्यो? आखिर क्यो? एक बार लोहिया ने बातचीत के सिलसिले में फ्रेन्च अस्तित्ववादी लेखिका सिमोन-द-बोवायर की पुस्तक 'ल द्यूजियेम सेक्स' की मुझसे बहुत प्रशंसा की—यहाँ तक कि उस पुस्तक को इस सदी की सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक कह डाला। जिन्होंने वह पुस्तक या उसका अंग्रेज़ी अनुवाद 'द सेकण्ड सेक्स' पढ़ा होगा, उन्हें ज्ञात होगा कि लोहिया और बोवायर की बहुत सी बातें तो शायद आज का यूरोप भी बरदाश्त करने को नही तैयार होगा—हिन्दुस्तान की तो बात ही क्या है?

लेकिन लोहिया को हिन्दुस्तान से यूरोप के मुक़ाबले में कही ज्यादा आशा है। सहनशक्ति का हवाला अन्तिम तर्क नहीं है। असली क्यों तो सहनशक्ति के कगार पर ही पूछा जाता है।

लेकिन यह लोहिया के व्यक्तित्व और विचारधारा का एक पहलू है। उन्हीं के शब्दों में गैर बराबरी मिटाने के लिए बीसवीं सदी में चलने वाली सात क्रान्तियों में से एक।

भाषा और साहित्य में बहुत से मुहावरे ख़ास-ख़ास स्थानों को लेकर भी प्रचलित हो जाते हैं। अक्सर उनमें उस स्थान के निवासियों का एक कल्पित सामूहिक व्यक्तित्व संचित हो जाता है। क्या सचमुच ये मुहावरे आज के जीवन व्यक्तित्व का स्वरूप निर्मित करते हैं? 'लखनवीपन' या 'लखनौआपन' की व्यंजना से सभी हिन्दी भाषी परिचित हैं। हिन्दी में एक कहावत है 'खुला खेल फ़र्रुख़ाबादी, इस फ़र्रुखाबादीपन मे जिन्दगी के दाँव को बिना चालबाजी और कड़ुवाहट के खेलने की ध्वनि तो है ही, एक तरह का बे-भरोस फक्कड़पन और दो-टूक निश्छलता भी इस व्यक्तित्व में व्यंजित होती है। मुझ जैसे, जिन्हें फ़र्रुखाबाद के बारे में और कोई जानकारी नही है, इस शहर या जिले को इसी मुहावरे से जानते हैं और पसन्द करते हैं। रोचक बात है कि इस मुहावरे का भी उपयोग लोहिया के चुनाव में हुआ—जो शायद इसका सबूत है कि अपनी भाषा कितने-कितने सूक्ष्म तंतुओं से अपने समाज को अभिव्यक्त करती है, जो कोई विदेशी भाषा नहीं कर सकती।

डॉ० लोहिया और डॉ० केसकर (कांग्रेस) के अलावा इस उपचुनाव में दो उम्मीदवार और थे—प्रसोपा के भारतसिंह राठौर और रिपब्लिकन छेदीलाल। प्रसोपा का एक प्रमुख चुनाव-शस्त्र यह भी था कि डॉ० लोहिया बाहरी आदमी हैं और स्थानीय लोगों को स्थानीय उम्मीदवार को वोट देना चाहिए। लोहिया की समर्थक 'जन समिति' ने इसके जवाब में एक छोटा-सा परचा वितरित किया—जो यों है:

स्थानीय बनाम बाहरी

राममनोहर लोहिया को बाहरी बताना झूठ और धोखा है। जिसके कोई नहीं, जायदाद नही, भाई, बहिन, कुनबा नहीं, जिसका अपना कोई घर नही, उसका सब जगह घर है। कौन है उससे बड़ा फ़र्रुखाबादी? सिंचाई की चोट पड़ने पर कोई घर वाला स्थानीय नहीं मिला था। बाहरी कहलाने वाला ही आया, ऐसा आदमी तो हर समय मुसीबत पड़ने पर मिल जाता है। स्थानीय तो ढूंढ़े भी नही मिलेगा।

चुनाव जन समिति फ़र्रुखाबाद

इस पर्चे के दूसरे अंश में १६५४ के नहर-रेट को बढ़ाने विरुद्ध सत्याग्रह का जिक्र है जिसके सम्बन्ध में लोहिया फ़र्रुखाबाद में गिरफ़्तार हुए थे। चुनाव संग्राम के दौरान मे और उसके बाद भी अखबारों ने लगभग एक मत से यह लिखा है कि इस उपचुनाव में स्थानीय प्रश्न नगण्य थे। प्रसोपा ने उठाने की कोशिश भी की लेकिन लोगों का मन उस समय देश और विदेश की उन समस्याओं में रम गया था जिन पर असली बहस लोहिया और सोशलिस्ट पार्टी ने छेड़ी थी। यह सही है कि लोहिया का सम्बन्ध फर्रुखाबाद से गिरफ़्तारी की वजह से घना हो गया था—लेकिन जन-समिति अगर स्थानीय-बनाम-बाहरी के दावे में इस विशिष्ट तर्क का सहारा न लेती तो मुझ जैसों को ज्यादा पसन्द आता। यह स्थानीयता हिन्दुस्तान के बहुत से रोगों की जड़ में है। हर प्रान्त में स्थानीय 'धरती पुत्रों' और दूसरे प्रान्तों के 'विदेशियों' के बीच आज का शासक वर्ग जहर भरी खाइयाँ खोदने में लगा है। अच्छा होता कि तर्क सिर्फ मुहावरे तक ही रहता, और फ़र्रुखाबाद के लोग केवल स्थानीय निवासी होने की संकीर्णता और गरवीले फ़र्रुखाबादी व्यक्तित्व की सार्वजनीन व्यापकता के बीच ही चुनाव करते। आखिरकार, गिरफ़्तारी तो संयोग मात्र थी—होने को वह कहीं भी हो सकती थी।

यों तो लोहिया की उम्मीदवारी की घोषणा मार्च के ही महीने में हो गयी थी—लेकिन असली आरम्भ ७ अप्रैल को हुआ जब लोहिया उत्तर-पूर्व सीमान्त-अंचल (उर्वसीयम्) का दौरा करके फर्रुखाबाद पहुँचे। वहाँ एक बड़ी सभा में उन्होंने लोगों से अनुमति माँगी और सर्वसम्मति से अनुमति मिलने पर ही उन्होंने उम्मीदवारी की घोषणा की। उसके बाद सभा में लोगों ने चंदे दिये और फिर पूरे क्षेत्र में चुनाव संचालन के लिए मतदाता केन्द्रों पर 'जन समितियों' का निर्माण हुआ। लोहिया का चुनाव संचालन प्रायः 'जन समिति' के ही नाम पर हुआ—सोशलिस्ट पार्टी गौण ही रही। खुद लोहिया ने अपने चुनाव भाषणों में अक्सर कहा, "मैं जितना सोशलिस्ट पार्टी का उम्मीदवार हूँ, उतना ही जन समितियों का भी।"

सभा के द्वारा अनुमति लेना और तब उम्मीदवारों की घोषणा करना, लोहिया की विशिष्टता है। उन्होंने १६५७ और १६६२ के आम चुनावों में भी ऐसा किया था और इस पर उन्होंने अपना आग्रह भी व्यक्त किया है। ऊपर से यह सिर्फ सतही कर्मकाण्ड लग सकता है। हर व्यवस्था में कर्मकाण्ड होते ही हैं—चाहे सामन्तवादी हो, जनतन्त्रात्मक हों या तानाशाही। आखिरकार यूरोपीय उदारतावादियों द्वारा निर्मित यह पद्धति कि चुनाव के आवेदन-

पत्र पर एक समर्थक और एक अनुमोदक के हस्ताक्षर हों एक कर्मकाण्ड ही तो है—जिसकी हिन्दुस्तानी पैरोडी की आज यह परिणति है कि एक उम्मीदवार का आवेदन पत्र दाखिल करने के लिए अस्सी मील की रफ़्तार से दिल्ली से दो अदद मन्त्री अमरोहा आते हैं और फिर उससे कुछ ही कम रफ़्तार से वापस चले जाते हैं। मजा यह कि सारे चुनाव से इन सज्जनों का कोई तत्काल संबंध नहीं जुड़ता न तो वोटर की हैसियत से, न कैनवेसिंग के लिए और न भाषण के ही लिए। कर्मकाण्ड आवश्यक हैं, लेकिन विलायत के इस नक़लची कर्मकाण्ड से जिसमें तनिक भी चूक रह जाने से चुनाव-अदालतें चुनाव अवैध घोषित कर देती हैं—कम-से-कम सभा द्वारा अनुमति का कर्मकाण्ड क्या जनता के कहीं अधिक निकट और कहीं अधिक सार्थक नहीं है? बेशक समाजवादी, जब तक कानून है, यदि शासन-पंचायतों में पहुँचना चाहते हैं, तब तक समर्थन-अनुमोदन की परिपाटी का बहिष्कार नहीं कर सकते। लेकिन क़ानून बदलने की आवाज़ तो उठायी ही जा सकती है।

"नई दिल्ली—८ मई, आज प्रधानमन्त्री नेहरू ने अधिवेशन के बाद वापस जाते हुए संसद के अपने पार्टी-सदस्यों को उत्साहित किया कि वे उत्तर प्रदेश के उप-चुनावों की 'चुनौती' को स्वीकार करें और चुनाव में अपने दल के उम्मीदवारों को जिता कर ही दम लें।

पार्टी के साधारण-सभा की अधिवेशन-समाप्ति की बैठक में बोलते हुए उन्होंने कहा कि उत्तरप्रदेश के तीन संसदीय चुनाव- क्षेत्रों में चुनाव की ज़ोर-दार लश्कर बन्दी चल रही है और हर सदस्य को चाहिए कि वह इस चुनौती का सामना करे। सभी को चाहिए कि चुनाव क्षेत्रों का दौरा करें और जनता के सामने कांग्रेस के आदर्श रखें।' (अंग्रेज़ी से अनुवाद)

'नार्दर्न इण्डिया पत्रिका'—६ मई १६६३

"पहले मैं खुद नहीं जानता था कि इस चुनाव का इतना महत्त्व है। सिद्धान्त और कार्यक्रम की बातों पर असर पड़ेगा, इतना मैं जानता था। लेकिन अब प्रतीत होता है कि उत्तरप्रदेश के बाहर पंजाब जैसी जगहों में भी तात्कालिक राजनीति पर असर पड़ेगा।"

फ़र्रुख़ाबाद के स्थानीय पत्र 'चट्टान' में प्रकाशित
डॉ० लोहिया की मतदाताओं के नाम चिट्ठी से।—१३ मई ६३

चुनाव १६ मई को हुआ। लेकिन एक महीने से ही देश भर में एक विचित्र वातावरण तैयार किया गया कि ये उपचुनाव 'चुनौती' है—'प्रतिष्ठा' की बाजी है। उस समय के छपने वाले तमाम अखबारों ने 'प्रतिष्ठा' की इस

बात को चुपचाप मान कर दुहराया। लेकिन तटस्थ दृष्टि से देखने पर यह सवाल फिर भी बना रहता है कि 'प्रतिष्ठा' या 'चुनौती' की बात इसमें कहाँ थी? कांग्रेस के पास लोकसभा में इतना भारी बहुमत है कि तीन चार जगहों से यदि विरोधी लोग चुन भी लिये जाते तो कोई फ़रक न पड़ता। परिपक्व राजनीतिक वातावरण में इस तरह 'प्रतिष्ठा' की घबराहट उपचुनावों में नहीं होती। हाँ, एक दो सदस्यों के इधर-से-उधर हो जाने से सरकार के ही गिरने की सम्भावना हो तो बात दूसरी है। उपचुनाव ज्यादा-से-ज्यादा आने वाले आम चुनाव में मतदाताओं के भावी मानस की झाँकी प्रस्तुत करते हैं। लेकिन 'प्रतिष्ठा' की इतनी धूम, कि एड़ी चोटी का पसीना एक हो जाय, कहीं नहीं मचती। मतदाताओं के भावी-मानव की दृष्टि से भी इस विचित्र स्नायविक दुर्बलता की कोई वजह नहीं दिखती। १९६२ के आम चुनाव के बाद इन उपचुनावों को छोड़ कर ४६ उपचुनाव हो चुके थे। ६ लोकसभा के और ४३ प्रादेशिक विधान सभाओं के। इनमें जहाँ कांग्रेस लोकसभा की अपनी पाँच जगहों में से दो खो चुकी, वहाँ प्रादेशिक सभाओं की २३ जगहों को बढ़ाकर २५ भी कर चुकी थी।

लोहिया ने प्रतिष्ठा की बाजी नहीं लगायी थी—बल्कि जैसा ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है, उन्होंने चुनाव के सहसा 'महत्त्वपूर्ण' हो जाने पर आश्चर्य ही प्रकट किया। प्रधानमन्त्री नेहरू ने सार्वजनिक रूप से 'चुनौती' की शब्दावली ९ मई को इस्तेमाल की, लेकिन सामान्यतः कांग्रेस के छोटे नेता न जाने किस अज्ञात संकेत से एक महीने पहले से ही 'प्रतिष्ठा' को दाँव पर लगा रहे थे। अखबारों में इस प्रतिष्ठाबाजी की काफी चर्चा रही है—और जैसा मैंने ऊपर संकेत किया—यह देश की राजनीति में एक विचित्र स्नायविक दुर्बलता का लक्षण है, इस नीति-चक्र की थोड़ी छानबीन करना उचित होगा। यह जरूर दुःख की बात है कि इस भेड़ियाधसान का नेतृत्व प्रधानमन्त्री नेहरू ने किया, जिनसे कुछ अधिक मानसिक प्रौढ़ता की आशा की जा सकती है।

मई के महीने में लोकसभा के कुल चार उपचुनाव हुए। तीन उत्तर प्रदेश में, एक राजकोट में। राजकोट में कांग्रेस के विरुद्ध स्वतन्त्र पार्टी के मन्त्री श्री मीनू मसानी चुनाव लड़ रहे थे और अन्त में वह जीते भी। लेकिन प्रधानमन्त्री ने ९ मई के अपने भाषण में उत्तरप्रदेश की केवल तीन चुनौतियों का ज़िक्र किया है। राजकोट को नजर-अन्दाज कर जाने में क्या रहस्य है? प्रधानमन्त्री नेहरू भूल गये हों ऐसा तो सम्भव नहीं दिखता, क्योंकि उनके अधिकतर भाषणों में स्वतन्त्र पार्टी की इतनी चर्चा रहती है जैसे समाजवाद

की असली बहस स्वतन्त्र पार्टी से ही चल रही हो। क्या राजकोट में प्रतिष्ठा की बाज़ी नहीं थी ?

इसी तरह उत्तरप्रदेश के तीन उपचुनावों में से एक उपचुनाव जौनपुर मे था जहाँ जनसंघ के दीनदयाल उपाध्याय कांग्रेस के विरुद्ध खड़े थे। इस क्षेत्र के बारे में नार्दर्न इण्डिया पत्रिका (इलाहाबाद) के 'स्टाफ़ करेस्पाण्डेण्ट' द्वारा प्रकाशित एक टिप्पणी का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है—

"जौनपुर, १६ मई। सुरक्षा मन्त्री श्री चह्वाण आज शाम को यहाँ जलालपुर और जौनपुर शहर में दो सभाओ में बोलने वाले थे। आज उनके आगमन कार्यक्रम के अचानक कट जाने से स्थानीय कांग्रेस कार्यकर्ता जो पिछले पाँच दिनों से ज़ोर शोर से उनके कार्यक्रम का प्रचार कर रहे थे, कुछ दुःखी, बल्कि रुष्ट भी हो गये हैं।

कल रात जब ये कार्यकर्तागण चह्वाण के आज के आगमन के कार्यक्रम की तैयारियाँ कर रहे थे, उनको हैरान और भौचक्का कर देने वाला संदेश मिला कि सुरक्षा मन्त्री नहीं आ सकेंगे।

यहाँ के कांग्रेसजनों में यह भावना है कि बड़े नाज़ुक और संकट के समय में ए० आई० सी० सी० ने अधर में छोड़ दिया है, जो जौनपुर की उपेक्षा करके सारा ज़ोर अमरोहा और फ़र्रुखाबाद क्षेत्रों में लगा रही है क्योंकि वहाँ के कांग्रेसी उम्मीदवार क्रमशः मन्त्री और भूतपूर्व मन्त्री हैं। कहा जा रहा है कि सिर्फ़ एक संचार मन्त्री श्री जगजीवन राम को छोड़कर अखिल भारतीय स्तर का कोई कांग्रेसी नेता जौनपुर क्षेत्र में नहीं आया। उत्तर प्रदेश के कुछ मन्त्री गण और मुख्य मंत्री भी, कुछ घण्टे के लिए ज़रूर इस क्षेत्र मे आये, वर्ना चुनाव प्रचार का सारा भार पूर्वी उत्तर प्रदेश के ही कांग्रेसी नेताओं और मंत्रियों को सँभालना पड़ रहा है।......"

पत्रिका—१७ मई १९६३

स्टाफ़ करेस्पाण्डेण्ट की टिप्पणी चुनाव के दो दिन पहले की है और अगले दो दिनों में स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। इसके विपरीत फ़र्रुखाबाद और अमरोहा में दर्जनों प्रादेशिक मंत्री तो डेरा डाले पड़े ही थे—इन्दिरा गांधी, चह्वाण, प्रतापसिंह कैरों, बख्शी ग़ुलाम मुहम्मद, जगजीवन राम, चन्द्रभानु गुप्त, अजित प्रसाद जैन जैसे उच्चस्तरीय नेताओं का ताँता भी बराबर लगा रहा। क्या 'प्रतिष्ठा' की बाज़ी केवल दो क्षेत्रों फ़र्रुखाबाद और अमरोहा में ही थी ? स्वतन्त्र पार्टी के बाद प्रधानमंत्री के भाषणों मे आये दिन चर्चा का विषय कोई अन्य पार्टी अगर है तो वह जनसंघ है। लेकिन

चुनाव के समय किस अदृश्य सूत्र-धार ने स्वतन्त्र पार्टी और जनसंघ को छोड़ कर सारा ध्यान केवल दो क्षेत्रों में सीमित कर दिया ? यहाँ तक कि जौनपुर में आखिरकार जीत कर कांग्रेस की थोड़ी बहुत प्रतिष्ठा की रक्षा करने वाले कांग्रेस जन भी चक्कर और भूलभुलैया में पड़ गये ?

इस नतीजे से बचा नहीं जा सकता कि जिन लोगों के हाथ में आज हिन्दुस्तान की राजनीति की बागडोर है, उनकी दृष्टि में चुनौती और प्रतिष्ठा का सवाल चार उपचुनावों में से केवल दो जगहों में था, या इन दो जगहों में कुछ अधिक गम्भीरता के साथ था।

'पत्रिका' के जौनपुर स्थित संवाददाता ने इस पर अनुमान यह लगाया कि यह शायद इस कारण हुआ कि उन दो क्षेत्रों में मंत्री और भूतपूर्व मंत्री खड़े थे, जब कि और जगहों के कांग्रेसी उम्मीदवार यों ही से थे। लेकिन यह बात सतही है। जिस नाटकीय ढंग से आखिरी वक्त में अमरोहा में कृपलानी के खिलाफ़ अपने घोषित उम्मीदवार को बैठाकर कांग्रेस ने हाफ़िज मुहम्मद इब्राहीम को खड़ा किया वह सबको मालूम है। मगर फ़र्रुखाबाद में जो कुछ हुआ वह अख़बारों में ज्यादा नहीं आया, क्योंकि वहाँ इतने भोंडे ढंग से यह कार्यवाही नहीं हुई। फ़र्रुखाबाद में पहले स्थानीय कांग्रेस जन को ही खड़ा करने का फ़ैसला कांग्रेस की ओर से हुआ था। एक स्थानीय कांग्रेसी उम्मीदवार की सिफ़ारिश उत्तर प्रदेश की कांग्रेस समिति ने भेज दी थी। जब डॉ० लोहिया की उम्मीदवारी की घोषणा होगयी, तब कांग्रेस हाई कमान ने उस उम्मीदवार की सिफ़ारिश अस्वीकृत करके डॉ० केसकर को खड़ा कर दिया। इस अप्रत्याशित परिवर्तन से स्थानीय कांग्रेस जन में कुछ क्षोभ भी हुआ।

जाहिर है कि मंत्रीगण के खड़े होने से चुनाव में 'चुनौती' नहीं पैदा हुई, बल्कि पहले लोहिया और कृपलानी की उम्मीदवारी की घोषणा से चुनौती उत्पन्न हुई, बाद में मंत्रीगण खड़े किये गये।

इस मनोवृत्ति का नतीजा यह हुआ कि पूरे चुनाव में कांग्रेस का रवैया निषेधात्मक हो गया। विशेषत: अमरोहा और फ़र्रुखाबाद में कांग्रेस का उद्देश्य सर्वाधिक यही लगता रहा कि चाहे जैसे हो कृपलानी और लोहिया लोकसभा में न पहुँचने पावें। लगता है कि कांग्रेस बैर निभाने की भावुकता में बह गयी। इस विचित्र मनःस्थिति का परिणाम उलटा हुआ—और मतदाताओं का भारी बहुमत लोहिया और कृपलानी के साथ हो गया, यह तो चुनाव के परिणामों से स्पष्ट ही है। लेकिन दीर्घकालीन प्रभावों की दृष्टि से भी बैर

निभाने की इस प्रतिहिंसक मनोवृत्ति को जनतन्त्र के लिए शुभ नहीं कहा जा सकता।

चुनौती और प्रतिष्ठा की बाजी लगाने का एक नतीजा यह भी हुआ कि उपचुनाव में जीतने के बाद लोहिया ने यह मांग की कि प्रधानमंत्री नेहरू इस्तीफ़ा देकर अपने क्षेत्र में फिर चुनाव लड़ें और जनता का समर्थन प्राप्त करने की कोशिश करें। अगर 'प्रतिष्ठा' का वातावरण न होता तो शायद यह मांग न उठती और कांग्रेस को भी इन हारों के बाद इतना धक्का न लगता।

लेकिन पहले से कौन जानता था कि 'प्रतिष्ठा' और 'चुनौती' की शब्दावली चला देने के बाद भी मतदाता कांग्रेस को वोट नहीं देंगे ?

"इलाहाबाद, २५ अप्रैल। प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने आज यहाँ कांग्रेस कार्यकर्ताओं को सम्बोधित करते हुए कहा कि चीनी आक्रमण के संदर्भ में विरोधी दलों द्वारा कांग्रेस की की जा रही आलोचनाओं का हमें मुकाबला करना है।

प्रधानमंत्री ने कहा कि लोहिया की संस्था 'गुण्डेबाजी' की संस्था है तथा जनसंघ उसके करीब है।" —'स्वतन्त्र भारत'—२६ अप्रैल १९६३

"राममोहर लोहिया ने हजारों की महती सभा में आज शाम को बोलते हुए कहा—प्रधानमंत्री फ़र्रुखाबाद की परिक्रमा आजकल कर रहे हैं। कभी इलाहाबाद, तो कभी कानपुर तो कभी लखनऊ में जा जाकर मेरे ख़िलाफ़ बोल रहे हैं और गाली बक रहे हैं।

प्रधानमंत्री क्यों फ़र्रुखाबाद के चारों ओर घूम रहे हैं ? मैं तो चाहता हूँ कि नेहरू साहब फ़र्रुखाबाद में आयें और जनता से नीति-रीति की बात करें, गाली-गुफ्ता की नहीं और तब जरा सही माने में बहस भी चले और जनता भी पहचाने कि कौन क्या है।"

—फर्रुखाबाद के स्थानीय पत्र 'चट्टान' से—१६ मई १९६३

हिन्दुस्तान की राजनीति में जितनी अधिक लोहिया की चारित्रिक हत्या करने की कोशिश की गयी है, उतनी किसी और व्यक्ति की नहीं। सम्भ्रान्त समाज में माना जाता है कि लोहिया को खुली गालियाँ देना सभ्यता का चरम-प्रदर्शन है, बहुत कुछ काफ़िर को काफ़िर कहने की तरह। मज़ा यह कि अपशब्द बोलने का आरोप लोहिया पर लगाया जाता है।

लोहिया ने बराबर कांग्रेस के समाजवाद पर वाम-पक्ष से आक्रमण किया है। इस उपचुनाव में सम्भावना थी कि समाजवाद के उद्देश्यों और कार्यक्रम

पर बहस चलती। यह सम्भावना जनसंघ, स्वतन्त्र पार्टी और कृपलानी के साथ नहीं थी। लेकिन जिस तरह कृपलानी के चुनाव को नीतियों की बहस से हटा कर कांग्रेस ने साम्प्रदायिकता के समुद्र में डुबो दिया, उसी तरह लोहिया की सैद्धान्तिक चुनौती को भी आदर्श-च्युत करने के दो गम्भीर प्रयत्न किये गये। दोनों ही कांग्रेस की ओर से।

एक तो लोहिया की चरित्र-हत्या की कोशिश करके; दूसरे इस जात-पाँत का सवाल उठा कर। पहले प्रयास की शब्दावली को तो स्वयम् प्रधानमंत्री ने शह दी, जिसका उद्धरण ऊपर दिया गया। दूसरे प्रयास का इशारा भी प्रधानमंत्री की ओर से था या कांग्रेस हाई कमान के किसी और की सूझ थी, यह अटकल का विषय है।

इलाहाबाद में प्रयुक्त अपशब्द प्रधानमंत्री की री की बात नहीं थी; क्योंकि सोशलिस्ट पार्टी गुण्डों की पार्टी है, यह नारा मार्च-अप्रैल महीने में प्रधानमंत्री कई स्थानों पर लगा चुके थे।

'चुनाव-स्टण्ट' के रूप में प्रधानमन्त्री नेहरू का कौशल असफल रहा, यह तो चुनाव के परिणाम से ही स्पष्ट है। वस्तुतः इस तरह की शब्दावली का उलटा ही असर हुआ। क्षेत्र के तीन उम्मीदवारों में से केवल लोहिया ही चर्चा का विषय बन गये। सोशलिस्ट कार्य-कर्ताओं ने इसका पूरा लाभ उठाया—और लोहिया के संघर्षशील, सत्याग्रही, निडर और स्पष्टवादी व्यक्तित्व को उभार कर सामने रखा। चरित्र-घात और चरित्र-स्थापना की यह रस्सा-कशी इस चुनाव की प्रमुख बाजियों में से एक हो गयी।

हिन्दुस्तान के चुनावों में निन्यान्बे प्रतिशत में जात-पाँत का दाँव लगाया जाता है। राजनीति में इसके क्या अर्थ होते हैं, इसके विश्लेषण की यहाँ जगह नहीं है। लेकिन भावुकता में डूबे हुए लोग अपने को इस छलावे में रखते हैं कि 'उच्च-स्तरीय' राजनीति में शायद यह दाँव नहीं खेला जाता। कांग्रेस की अन्दरूनी विकृतियाँ जैसे-जैसे खुल कर सामने आती जा रही हैं, यह भ्रम टूटता जा रहा है। लेकिन डॉ० केसकर—सहसा चुनाव के दौरान में पंडित बाल-कृष्ण केसकर हो जायेंगे, इसके लिए खट्टी-से-खट्टी तबीयत वाला व्यक्ति भी तैयार न रहा होगा।

अखबारों में इस प्रत्युत्पन्न ब्राह्मणत्व की काफी चर्चा रही। शायद भूतपूर्व कांग्रेसी सदस्य श्री मूलचन्द्र दुबे, जिनके असामयिक निधन से यह चुनाव जरूरी हो गया, अगर ब्राह्मण न होते, तो डॉ० केसकर के ब्राह्मणत्व की खोज मत-दाताओं के सामने इतनी आवश्यक न होती। लेकिन, कांग्रेस के प्रचार का

एक बहुत बड़ा अंश लोहिया की जाति की तलाश भी थी, यह कम लोग जानते हैं। इसका व्यापक उपयोग किया गया कि डॉ० लोहिया मारवाड़ी हैं—और कांग्रेसी परचों और अखबारों में उन्हे बारम्बार 'सेठ' राममनोहर लोहिया कहकर सम्बोधित किया गया। अगर चुनाव फ़र्रुखाबाद में न होकर, मारवाड़ के किसी इलाके मे होता तो शायद कांग्रेस को डॉ० लोहिया की जाति पूछने की इतनी उतावली न होती। बौद्धिक दृष्टि से यह सब अगम्भीर कौतुक जैसा ही मालूम पड़ता है—और शायद होता भी, यदि सारी 'आधुनिकता' के बावजूद देश के प्रधानमन्त्री नेहरू को 'पंडित' जवाहरलाल नेहरू के नाम से याद करने और अवचेतन मन में जमा देने की, आदत आग्रह-पूर्वक न डाली गयी होती।

एक दूसरा प्रश्न जो लोहिया के सम्बन्ध में मतदाताओं के सामने रखा गया—वह था कि डॉ० लोहिया ने जनसंघ के साथ दोस्ती की। मूलत. यह लोहिया के प्रतिक्रियावादी और साम्प्रदायिक लोगों के 'क़रीब' पहुँच जाने का आरोप था। एक हद तक यह प्रश्न नीति-रीति का है, इसलिए जिस रूप में इसका असर मतदाताओं की रुचि पर पड़ा होगा, इसका विश्लेपण आवश्यक है।

इस आरोप का स्रोत भी प्रधानमन्त्री नेहरू के वक्तव्य में मिल जायगा, जिसका उद्धरण हमने ऊपर दिया है। धर्म निरपेक्षता बनाम धार्मिक संकीर्णता का यह विवाद कुछ अधिक उभर कर सामने आया होता (क्योंकि एक तरह से अमरोहा और जौनपुर में भी यह प्रश्न प्रस्तुत था), अगर स्वयम् प्रधानमन्त्री खास चुनाव संग्राम के बीचो-बीच आर्य समाज सम्मेलन का उद्घाटन करने और गीता के श्लोक दुहराने की मजबूरी न महसूस करते। ऐसा क्यों होता है? क्यों बारम्बार राजनीतिक सवालो को कूटनीति और उससे भी आगे, चुनाव 'स्टण्ट' की बलिवेदी पर बलिदान कर दिया जाता है?

मुझे आचार्य नरेन्द्रदेव के फ़ैज़ाबाद वाले चुनाव की याद आ रही है जिसमें बाबा राघवदास उनके विरुद्ध खड़े किये गये। चुनाव के दौरान मे कांग्रेस की ओर से परचा बँटा था, जिसमें स्वर्ग में गांधी जी और रामचन्द्र जी की बातचीत में यह चिन्ता प्रकट की गयी थी कि आचार्य नरेन्द्र देव नास्तिक हैं और उनके जीतने से धर्म की ध्वजा अयोध्या से विलुप्त हो जायगी। चुनाव कांग्रेसी और समाजवादी के बीच न होकर बाबा और नास्तिक के बीच हो गया। बेशक कांग्रेस की जीत हुई और नरेन्द्र देव हार गये—मगर किस क़ीमत पर?

पर बहस चलती। यह सम्भावना जनसंघ, स्वतन्त्र पार्टी और कृपलानी के साथ नहीं थी। लेकिन जिस तरह कृपलानी के चुनाव को नीतियों की बहस से हटा कर कांग्रेस ने साम्प्रदायिकता के समुद्र में डुबो दिया, उसी तरह लोहिया की सैद्धान्तिक चुनौती को भी आदर्श-च्युत करने के दो गम्भीर प्रयत्न किये गये। दोनों ही कांग्रेस की ओर से।

एक तो लोहिया की चरित्र-हत्या की कोशिश करके; दूसरे इस जात-पाँत का सवाल उठा कर। पहले प्रयास की शब्दावली को तो स्वयम् प्रधानमंत्री ने शह दी, जिसका उद्धरण ऊपर दिया गया। दूसरे प्रयास का इशारा भी प्रधानमंत्री की ओर से था या कांग्रेस हाई कमान के किसी और की सूझ थी, यह अटकल का विषय है।

इलाहाबाद में प्रयुक्त अपशब्द प्रधानमंत्री की रौ की बात नहीं थी; क्योंकि सोशलिस्ट पार्टी गुण्डों की पार्टी है, यह नारा मार्च-अप्रैल महीने में प्रधानमंत्री कई स्थानों पर लगा चुके थे।

'चुनाव-स्टण्ट' के रूप में प्रधानमन्त्री नेहरू का कौशल असफल रहा, यह तो चुनाव के परिणाम से ही स्पष्ट है। वस्तुतः इस तरह की शब्दावली का उलटा ही असर हुआ। क्षेत्र के तीन उम्मीदवारों में से केवल लोहिया ही चर्चा का विषय बन गये। सोशलिस्ट कार्य-कर्ताओं ने इसका पूरा लाभ उठाया—और लोहिया के संघर्षशील, सत्याग्रही, निडर और स्पष्टवादी व्यक्तित्व को उभार कर सामने रखा। चरित्र-घात और चरित्र-स्थापना की यह रस्सा-कशी इस चुनाव की प्रमुख बाजियों में से एक हो गयी।

हिन्दुस्तान के चुनावों में निन्नान्वे प्रतिशत में जात-पाँत का दाँव लगाया जाता है। राजनीति में इसके क्या अर्थ होते हैं, इसके विश्लेषण की यहाँ जगह नहीं है। लेकिन भावुकता में डूबे हुए लोग अपने को इस छलावे में रखते हैं कि 'उच्च-स्तरीय' राजनीति में शायद यह दाँव नहीं खेला जाता। कांग्रेस की अन्दरूनी विकृतियाँ जैसे-जैसे खुल कर सामने आती जा रही हैं, यह भ्रम टूटता जा रहा है। लेकिन डॉ० केसकर—सहसा चुनाव के दौरान में पंडित बाल-कृष्ण केसकर हो जायेंगे, इसके लिए खट्टी-से-खट्टी तबीयत वाला व्यक्ति भी तैयार न रहा होगा।

अख़बारों में इस प्रत्युत्पन्न ब्राह्मणत्व की काफी चर्चा रही। शायद भूतपूर्व कांग्रेसी सदस्य श्री मूलचन्द्र दुबे, जिनके असामयिक निधन से यह चुनाव जरूरी हो गया, अगर ब्राह्मण न होते, तो डॉ० केसकर के ब्राह्मणत्व की खोज मत-दाताओं के सामने इतनी आवश्यक न होती। लेकिन, कांग्रेस के प्रचार का

एक बहुत बड़ा अंश लोहिया की जाति की तलाश भी थी, यह कम लोग जानते हैं। इसका व्यापक उपयोग किया गया कि डॉ० लोहिया मारवाड़ी हैं—और कांग्रेसी परचों और अखबारों में उन्हें बारम्बार 'सेठ' राममनोहर लोहिया कहकर सम्बोधित किया गया। अगर चुनाव फ़र्रुखाबाद मे न होकर, मारवाड़ के किसी इलाक़े में होता तो शायद कांग्रेस को डॉ० लोहिया की जाति पूछने की इतनी उतावली न होती! बौद्धिक दृष्टि से यह सब अगम्भीर कौतुक जैसा ही मालूम पड़ता है—और शायद होता भी, यदि सारी 'आधुनिकता' के बावजूद देश के प्रधानमन्त्री नेहरू को 'पंडित' जवाहरलाल नेहरू के नाम से याद करने और अवचेतन मन में जमा देने की, आदत आग्रह-पूर्वक न डाली गयी होती।

एक दूसरा प्रश्न जो लोहिया के सम्बन्ध में मतदाताओं के सामने रखा गया—वह था कि डॉ० लोहिया ने जनसंघ के साथ दोस्ती की। मूलतः यह लोहिया के प्रतिक्रियावादी और साम्प्रदायिक लोगों के 'करीब' पहुँच जाने का आरोप था। एक हद तक यह प्रश्न नीति-रीति का है, इसलिए जिस रूप में इसका असर मतदाताओं की रुचि पर पड़ा होगा, इसका विश्लेषण आवश्यक है।

इस आरोप का स्रोत भी प्रधानमन्त्री नेहरू के वक्तव्य में मिल जायगा, जिसका उद्धरण हमने ऊपर दिया है। धर्म निरपेक्षता बनाम धार्मिक संकीर्णता का यह विवाद कुछ अधिक उभर कर सामने आया होता (क्योंकि एक तरह से अमरोहा और जौनपुर में भी यह प्रश्न प्रस्तुत था), अगर स्वयम् प्रधानमन्त्री खास चुनाव संग्राम के बीचो-बीच आर्य समाज सम्मेलन का उद्घाटन करने और गीता के श्लोक दुहराने की मजबूरी न महसूस करते। ऐसा क्यों होता है? क्यों बारम्बार राजनीतिक सवालो को कूटनीति और उससे भी आगे, चुनाव 'स्टण्ट' की बलिवेदी पर बलिदान कर दिया जाता है?

मुझे आचार्य नरेन्द्रदेव के फ़ैजाबाद वाले चुनाव की याद आ रही है जिसमें बाबा राघवदास उनके विरुद्ध खड़े किये गये। चुनाव के दौरान में कांग्रेस की ओर से परचा बँटा था, जिसमें स्वर्ग में गांधी जी और रामचन्द्र जी की बातचीत में यह चिन्ता प्रकट की गयी थी कि आचार्य नरेन्द्र देव नास्तिक हैं और उनके जीतने से धर्म की ध्वजा अयोध्या से विलुप्त हो जायगी। चुनाव कांग्रेसी और समाजवादी के बीच न होकर बाबा और नास्तिक के बीच हो गया। बेशक कांग्रेस की जीत हुई और नरेन्द्र देव हार गये—मगर किस क़ीमत पर?

१० मई १९६२ को कांग्रेस अध्यक्ष श्री संजीवैय्या ने हैदराबाद में कांग्रेस को कम्युनिस्टों से अभयदान देते हुए ललकारा : "कांग्रेस की असली चुनौती 'राइट-रिऐक्शन' (दक्षिण पंथी प्रतिक्रियावाद) की ओर से है।" वेदमंत्रोच्चार, गीता-पाठ और संस्कृत हिन्दुस्तान की राजभाषा बनायी जाय, इन विचित्र ध्वनियों से गूँजते हुए आर्य समाज सम्मेलन के बीच से प्रधानमन्त्री नेहरू की यह पुकार कि लोहिया ने वोट पाने के लिए धार्मिक संकीर्णता के साथ दोस्ती कर ली है, आगे के इतिहासकार को—यदि इतिहास में इस चुनाव की याद बाक़ी रह जायगी—'नेहरू-युग' की सर्वव्यापी विडम्बना का उदाहरण प्रस्तुत करेगी। साधारणतः सैद्धान्तिक प्रश्नों पर प्रधानमन्त्री का अन्तर्विरोध इतना खुल कर सामने नहीं आता। शायद यह 'चुनौती' और 'प्रतिष्ठा' की घबराई हुई मनोवृत्ति ही थी, जिसने आधुनिकता और समाजवाद के प्रवक्ता और जवाहरलाल को, नहीं है, 'राइट-रिऐक्शन' का लेश भी जिसमें, ऐसे यज्ञ-धूम से पूत, चन्दन-अगुरु से सुवासित, संस्कृत अभिभाषणों से गुंजरित और आर्य हिन्दुत्व का पुनरुत्थान करने वाले पुनीत पंडाल में ले जाकर खड़ा कर दिया।

पैहम सजूद पाये-सनम पर दमे-विदा,
मोमिन ख़ुदा को भूल गये इज़तराब में।

इसमें सन्देह नहीं कि जनसंघ ने लोहिया का समर्थन किया। जनसंघ को अधिकार एकाग्रमना पार्टी समझा जाता है, जैसा कि लोगों को कुछ दिन पहले कम्युनिस्ट पार्टी के बारे में ख़्याल था। तथ्य यह है कि जनसंघ के भीतर भी विचारों और दिशाओं के घात प्रतिघात चलते रहते हैं। ख़ुद जनसंघ के भीतर भी लोहिया का समर्थन करने के सवाल पर अन्दरूनी कशमकश रही, और केवल एक अंश ने ही लोहिया का समर्थन किया। लोहिया ने चुनाव के समय ही यह स्पष्ट कर दिया था कि उन्होंने जनसंघ का समर्थन माँगा नहीं, और न किसी तरह उस पार्टी से कोई चुनाव-समझौता ही किया।

लेकिन इन शाब्दिक आक्रमणों और प्रत्याक्रमणों के साथ असली प्रश्न यही है कि लोहिया ने हिन्दू-मुसलिम सम्बन्धों को लेकर, मतदाताओं के सामने क्या नीति रखी? जनसंघ के डराने के बावजूद भी लोहिया को जो मतदाताओं का व्यापक समर्थन मिला, क्या वह साम्प्रदायिक था? क्या उसमें संकीर्णता थी? हिन्दू-मुस्लिम सांस्कृतिक और सामाजिक समस्या पर लोहिया के बहुत स्पष्ट विचार हैं जिनका निर्माण आज से बहुत पहले हो चुका है। क्या उन सिद्धान्तों की अवहेलना की गयी?

सोशलिस्ट पार्टी की घोषित नीति है कि हिन्दुस्तानी समाज के पिछड़े हुए समूहों को, जिनमें औरतें, शूद्र, हरिजन, आदिवासी, मुसलमान, ईसाई व छोटी जातियाँ आती हैं—नौकरियों और सामाजिक पदों में साठ प्रतिशत विशेष अवसर मिलना चाहिए। इस माँग का चुनाव मे व्यापक प्रचार किया गया। इसके विपरीत कांग्रेस समाज की होड़ में ग़रीब-अमीर, बड़े-छोटे सबके लिए समान अवसर का सिद्धान्त मानती है। इसकी व्याख्या करने की जरूरत नहीं है कि 'हिन्दुत्व' की ओर से कौन सी दृष्टि उदार है, और कौन सी संकीर्ण। स्पष्ट है।

दो परचे चुनाव जनसमिति की तरफ से मतदाताओं में वितरित किये गये; जो इस प्रकार हैं :—

लोकसभा में लोहिया

(१) समान अवसर की दौड़ में पिछडे हमेशा पिछड़े ही रह जायेंगे।

हरिजन, शूद्र, आदिवासी, औरत, पिछड़े, मुसलमान को विशेष अवसर देने के लिए १९ मई को पेड़ (बरगद) पर मोहर लगाइये।

चु०—जनसमिति, फर्रुखाबाद

देशी और परदेशी

(२) एक बात मै हर हिन्दुस्तानी से कहना चाहता हूँ। रजिया, शेरशाह, मलिक मुहम्मद जायसी, रहीम और रसखान मेरे पुरखे हैं, मेरे बाप दादो में हैं। गजनी, गोरी, बाबर तैमूर लंग ये परदेशी थे, हमलावर थे।

राममनोहर लोहिया

१८ मई ६३ को पेड़ पर मुहर लगाकर लोहिया को विजयी बनाइये।

चुनाव जनसमिति,
फ़र्रुखाबाद

वास्तविकता यह है कि लोहिया जहाँ हिन्दू मन को अधिक उदार, अधिक उमंग वाला बनाकर हिन्दू मुसलमान के बीच की खाई को कम करना चाहते हैं, वहाँ कांग्रेस आज की सामाजिक घरबन्दियों को जड़ बनाकर कभी, प्रत्यक्ष कभी परोक्ष, उनका उपयोग करती है। इसके बावजूद भी अगर जनसंघ ने लोहिया का समर्थन किया तो परिवर्तन के लक्षण किस में माने जायें—लोहिया में या जनसंघ मे ?

चुनाव के समय में ही संसद में अंग्रेजी को राजभाषा बनाये रखने का विधेयक पेश था। लोहिया का नाम हिन्दुस्तान के भाषा सम्बन्धी विवाद में अभिन्न रूप से जुड़ गया है। प्रधानमन्त्री से लेकर लगभग सभी अखबारों की

कोशिश रही है कि लोहिया को कट्टर और मताग्ध हिन्दी समर्थक के रूप में प्रस्तुत किया जाय ताकि उनका भावात्मक सम्पर्क अहिन्दी-भाषी क्षेत्रों में खत्म हो जाय। विधेयक प्रस्तुत होने के कारण यह अनिवार्य था कि भाषा का प्रश्न इस चुनाव में सामने आ जाता। यह चुनाव हिन्दी भाषी प्रदेश में था। हम सब जानते हैं कि भाषा के मामले में कितनी मतान्धता है और लोग कितनी आसानी से भाषागत संकीर्णता से प्रेरित किये जा सकते हैं। लोहिया के लिए इससे ज्यादा आसान कुछ नहीं कि वह सिर्फ हिन्दी प्रेम, हिन्दी सेवा के नाम पर वोट की उम्मीदवारी करते। उन्हें शायद चुप लगाने के अतिरिक्त कुछ न करना पड़ता।

लोहिया का विश्वास है कि अंग्रेजी का राजकाज में बना रहना, न सिर्फ हमारी दासता की निशानी है, बल्कि किसी भी तरह की सामाजिक बराबरी और क्रान्ति के रास्ते में सबसे बड़ी बाधा भी। जबकि प्रधानमन्त्री नेहरू देश को यह सिखाते हैं कि इस दासता और मानसिक संकीर्णता के बीच कोई अन्य रास्ता नहीं है, दो में से एक को चुनना ही पड़ेगा—और इस तरह अंग्रेजी दासता को बढ़ावा देते हैं। लोहिया का विश्वास है कि उन दोनों के बीच से एक राह है—और आज के भावात्मक धुन्ध में वह कितनी ही दुर्गम और अदृश्य प्रायः क्यों न लगे, हर समझदार आदमी को उस राह के आविष्कार की कोशिश करनी चाहिये। इस रास्ते का नाम उन्होंने 'अंग्रेजी हटाओ' रखा है। इस दृष्टि का स्रोत हिन्दी का एकांगी प्रेम या हिन्दी सेवक होने का दावा करना नहीं है, बल्कि मूलतः राष्ट्रीयता और समाजवाद है।

सोशलिस्ट पार्टी के चुनाव-घोषणा-पत्र में भाषा नीति इस प्रकार दी हुई है—

२० हिन्दी भाषी प्रान्तों से अंग्रेजी का सार्वजनिक इस्तेमाल तुरन्त हटाया जाय। केन्द्र में भी इन प्रदेशों का एक समूह बने जहाँ सेना, रेल, डाक, उद्योग-धंधे, सचिवालय इत्यादि सभी से अंग्रेजी फ़ौरन हटायी जाय।

२१. जो प्रदेश केन्द्रीय प्रशासन के लिए अंग्रेजी रखना चाहते हैं उनका दूसरा समूह बने। इस समूह में भी प्रदेशीय स्तर से अंग्रेजी फौरन हटायी जाय।

इन उद्देश्यों के हासिल करने के दौर में प्रयत्न हो कि आवश्यक अंग्रेजी में फेल विद्यार्थी पास हों, प्रदेशों के उच्च न्यायालयों से, संविधान की धारा ३४८ के मुताबिक और विश्वविद्यालयों मे आवश्यक विषय और माध्यम के रूप में, सचिवालयों, कारखानों से अंग्रेजी खत्म हो।

अन्यथा

(क) अंग्रेजी का सार्वजनिक इस्तेमाल पूरे देश से तुरन्त खत्म किया जाय और केन्द्र में हिन्दी का इस्तेमाल तुरन्त शुरू हो अथवा बहुभाषी केन्द्र बने।

(ख) यदि हिन्दी केन्द्रीय भाषा हो तो केन्द्र अपनी गजटी नौकरियाँ दस वर्ष के लिए अहिन्दी प्रदेशों के लिए सुरक्षित रखे अथवा प्रदेश की जनसंख्या के अनुसार कोटा बँध जाय अथवा सभी देशी भाषाओं का इस्तेमाल हो।

इन उद्देश्यों को हासिल करने के दौर में उच्च न्यायालयों से अंग्रेजी हटाने के अलावा लोकसभा में अंग्रेजी को छोड़कर हर हिन्दुस्तानी भाषा को बोलने का हक रहे जिसका तरजुमा कान फोन के द्वारा हिन्दुस्तानी में होता रहे।

लोहिया ने, अखबारी विकृतियों के बावजूद भी, भाषा के बारे में राष्ट्रीयता और समानता इन दो सिद्धान्तों से समन्वित दृष्टि ही मतदाताओं के सामने रखी। एक और परचा जो चुनाव समिति की ओर से मतदाताओं को बाँटा गया और जो लोहिया की भाषा नीति का अभिन्न अंग है, उसकी जानकारी लोहिया की दृष्टि समझने के लिए बहुत जरूरी है। इस पर्चे को पूरा उद्धृत करना लोहिया के समर्थकों और विरोधियों दोनों के लिए रोचक होगा।

डॉक्टर लोहिया और उर्दू ज़बान

१९५५ ई० में जब प्रजा सोशलिस्ट पार्टी को नेहरू परस्ती से बाज रखने और सेहत मन्द लड़ाकू पार्टी बनाने की कोशिशों के नतीजे में डाक्टर राम मनोहर लोहिया और उनके साथ हजारों कारकुन, तादीबी कार्रवाई के नाम पर पार्टी से निकाले गये और सोशलिस्ट पार्टी की दाग़ बेल पड़ी तो यकुम मार्च १९५६ को लखनऊ में कौंसिल हाउस के सामने उत्तर प्रदेश के कमोबेश एक लाख किसानों, मजदूरों और निचले औसत तबक़े के लोगों के तारीखी जलूस ने पाँच मतालिबात को लेकर मुज़ाहिरा किया। इस शानदार मुज़ाहिरे से मुतासिर होकर काँग्रेस के नीम-सरकारी तरजुमान क़ौमी आवाज़ लखनऊ ने एक मज़मून लिखते हुए ख़याल ज़ाहिर किया कि उस मुज़ाहिरे से यह अन्दाज़ा होता है कि इस पार्टी का हलक़ए-असर काफ़ी वसीअ है और लोग इसकी बात मानते हैं। हम यह जानना चाहते हैं कि उर्दू के बारे में इस पार्टी की क्या राय है। डाक्टर लोहिया उस वक्त पार्टी के मरकज़ी चेयरमैन थे। मैंने क़ौमी आवाज़ का मज़मून डॉक्टर साहब की ख़िदमत में भेजा। डॉक्टर साहब ने उस मज़मून के सिलसिले में हस्ब ज़ैल ख़त लिखा—

सोशलिस्ट पार्टी—मरकज़ी दफ्तर—
३-६-१६।१७७५ हिमायत नगर, हैदराबाद, (दक्खिन)
१६ मार्च १६५६

प्यारे मित्र,

तुमने क़ौमी आवाज़ के मज़मून को हिन्दी में लिखकर भेजा उसके लिए शुक्रिया। बिला शक उर्दू को उत्तर प्रदेश में इलाक़े की या क्षेत्रीय भाषा का मरतबा मिलना चाहिये जिसके साफ़ माने यह होंगे कि—

(१) जिन बच्चों की मादरी ज़बान उर्दू है, उनकी इब्तदाई तालीम (प्रारंभिक शिक्षा) उर्दू में दी जाये और मादरी ज़बान जो बच्चों का सरपरस्त बताये वही मानी जाय।

(२) जिन बच्चों की मादरी ज़बान उर्दू है, सेकेंडरी-स्टेज और कालेज में उनके लिए उर्दू भी पढ़ने की सहूलियत दी जाय।

(३) राज्य के सरकारी मुहकमों और कचहरियों में उर्दू लिपि के इस्तेमाल की भी इजाज़त दी जाय। इसके अलावा मैं तुम्हें अपनी एक आशा भी बताना चाहूँगा। कोई एक ज़माना जल्द ही ऐसा आना चाहिये जब हिन्दी और उर्दू में कोई फ़र्क़ न रहे जैसा कि मेरी और तुम्हारी ज़बान में आज भी है और दोनों के लिखने की लिपि भी एक हो जाय। लेकिन यह तो आगे की और उम्मीद की बातें हैं और तभी हो सकती है जब हिन्दी और उर्दू वाले मिलकर और रज़ामन्दी से इस काम को करें। तब तक के लिए तो जो मैंने कहा है वह सोशलिस्ट पार्टी की राय समझनी चाहिये।'''मैं इस ख़त की नक़ल 'क़ौमी आवाज़' को भेज रहा हूँ। अगर वह चाहें तो शाया कर सकते हैं।

तुम्हारा
राममनोहर लोहिया

चुनांचे 'क़ौमी आवाज़' ने इस ख़त को पहले सफ़े पर शहसुर्ख़ी के साथ शाया किया। और यह हक़ीक़त तसलीम की कि सोशलिस्ट पार्टी पहली सियासी पार्टी है जिसने उर्दू को उत्तर प्रदेश के इलाक़ाई ज़बान बनाने का हक़ तसलीम किया है। 'क़ौमी आवाज़' के अलावा हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के तक़रीबन तमाम उर्दू अख़बारात ने यह ख़त शाया किया।

चूंकि लोहिया जी की रहनुमाई में सोशलिस्ट पार्टी उर्दू की हर जायज मदद पर दिल से तैयार थी इसलिए सोशलिस्ट पार्टी यू० पी० ने अपने

सालाना इजलास मुनाक़िदा बाराबंकी और मरकज़ी पार्टी ने सालाना इजलास शेरघाटी (बिहार) में उर्दू के इलाक़ाई ज़बान के मुतालबे को हक़बजानिब क़रार दे दिया।

सोशलिस्ट पार्टी के 'अंगरेजी हटाओ' आन्दोलन को लेकर भी बहुत सी गलत-फ़हमियाँ फैलाई जा रही हैं। इस तहरीक़ का मकसद सिर्फ़ इतना है कि विदेशी साम्राज्य की यादगार अंग्रेज़ी को हटायें। उसकी जगह हिन्दी उर्दू और दूसरी मुकम्मल ज़बानों को रायज किया जाय। अंग्रेज़ी हटने का मतलब भी बस इतना ही है कि वह रोज मर्रा के, काम-काज में इस्तेमाल न की जाय, न इसे ज़रियए—तालीम रखा जाय।

राक़िम
सिब्त मुहम्मद नकवी
अकबरपुर, फ़ैज़ाबाद
यू० पी०

लोहिया की सम्पूर्ण भाषा-नीति में एक तारतम्य है, जिस पर विवेकपूर्ण बहस हो सकती है, लेकिन इस आधार पर उनके 'जन-संघ के करीब' होने का आरोप वही लगा सकता है जिसे या तो यह मालूम ही नहीं है कि फ़र्रुख़ाबाद के मतदाताओं के सामने भाषा का सवाल किस दृष्टि से उठाया गया या जो जान बूझकर भावनात्मक धुन्ध पैदा करना चाहता है। लोहिया की प्रखर स्पष्टवादिता और सब कुछ मतदाताओं के सामने रखने के कारण ही इत्तराव मे खुद-फ़रामोश मोमिन की आवाज लोगों को प्रभावित नही कर सकी।

लोहिया ने वातावरण के बावजूद भी 'हिन्दी-सेवक' और 'हिन्दी-प्रेमी' होने के नाम पर वोट नहीं माँगे। इसके विपरीत मतदाताओं के सामने कांग्रेस की ओर से भाषा की जो नीति रखी गई, वह भी द्रष्टव्य है। हवाई जहाज से एक परचा कुछ कांग्रेसी हिन्दी लेखकों के नाम से चुनाव-क्षेत्र में गिराया गया। इसके हस्ताक्षरकर्ताओं में श्री मैथिलीशरण गुप्त, श्री रामधारी सिंह 'दिनकर', श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, डॉ० नगेन्द्र, दिल्ली प्रादेशिक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष डॉ० विजयेन्द्र स्नातक, सम्मेलन के मन्त्री श्री गोपाल प्रसाद व्यास, दिल्ली विश्वविद्यालय की प्रोफ़ेसर डॉ० सावित्री सिनहा, 'दैनिक हिन्दुस्तान' के सम्पादक श्री हरिकृष्ण द्विवेदी आदि थे। वक्तव्य में डॉ० केसकर का समर्थन इन शब्दों में था—

"राष्ट्रीय कार्यकर्ता और नेता के रूप में डॉ० केसकर की प्रसिद्धि बहुत दिनों से रही है, किन्तु उनकी योग्यताओं का असली पता देश को तब चला

जब कि डॉ० केसकर भारत सरकार के सूचना और प्रसारण मंत्री नियुक्त हुए। जन्म से मराठी भाषी होते हुए भी डॉ० केसकर व्यवहारतः हिन्दी के प्रथम पोषक एवं समर्थक रहे हैं। डॉ० केसकर काशी विद्यापीठ के शास्त्री हैं और वहाँ प्राध्यापक भी रहे हैं और हिन्दी क्षेत्र ही उनके जीवन का कार्य-क्षेत्र रहा है। जिस प्रकार पराड़कर जी, श्री लक्ष्मी नारायण गर्दे तथा श्री माधवराव जी सप्रे ने हिन्दी को और हिन्दीवालों ने उन्हें कभी भी अपने से पृथक् नहीं समझा उसी प्रकार डॉ० केसकर ने भी अपने क्षेत्र में हिन्दी की जो सेवा की है उसके कारण हिन्दी जगत् उनको अपना ही मानता है। शास्त्रीय संगीत के संरक्षक के रूप में उन्होंने उत्तर भारत के हिन्दुस्तानी संगीत को नया जन्म दिया और फ़िल्म में भी उन्होंने सुधार प्रारम्भ किया ताकि भारत का फिल्म जगत् भारतीय संस्कृति और परम्पराओं का वाहक बने। हम यह कामना करते हैं कि डॉ० केसकर की कार्य-क्षमता और भी कुशल हो जिससे हिन्दी भाषा और भारतीय संस्कृति उनकी अद्भुत योग्यता और साहसपूर्ण नेतृत्व का पूरा लाभ उठा सके।"

'हिन्दी वालों के अपने' और 'सूचना मन्त्री पद की असली योग्यता', 'उत्तर-भारत', 'भारतीय संस्कृति और परम्परा' की व्यंजनापूर्ण शब्दावली में 'हिन्दी-सेवक' के दावे के साथ मतदाताओं की किस भावना को उभारा गया है, इस पर पाठक स्वयम् विचार करें। उसी हवाई जहाज से डॉ० केसकर की सिफारिश करते हुए प्रधानमन्त्री नेहरू की एक अपील भी गिराई गयी, जो यों थी :*

"डॉ० बालकृष्ण केसकर कांग्रेस के उम्मीदवार के रूप में फ़र्रुखाबाद से लोकसभा के लिए खड़े हैं। वह हमारे पुराने सहयोगी हैं और कांग्रेस के सदस्य हैं और पहले लोक-सभा में उपयोगी काम कर चुके हैं। मैं आशा करता हूँ कि फ़र्रुखाबाद के मतदाता उनकी मदद करेंगे और उन्हें वोट देंगे। इस प्रकार वे कांग्रेस के आदर्शों को ताक़त पहुँचायेंगे और लोक-सभा में उनका प्रतिनिधि एक अच्छा और योग्य व्यक्ति होगा।"

दूसरा परचा कांग्रेसी उम्मीदवार के लोक-सभा में पहले के 'उपयोगी काम' और कांग्रेस के आदर्शों की चर्चा करता है। पहला पर्चा उस उपयोगी

---

*मुझे इस परचे का अंग्रेजी प्रारूप ही उपलब्ध हो सका, जिसका मैंने फिर हिन्दी मे अनुवाद कर दिया है। हो सकता है इस दुहरे अनुवाद मे मूल से कुछ शाब्दिक अन्तर पड़ गया हो।

काम और सूचना मन्त्री पद से हिन्दी-सेवा की व्याख्या करता है। इस प्रकार लोहिया के विरुद्ध कांग्रेस की भाषा-नीति मतदाताओं के सामने रखी जाती है।

एक चीज मतदाताओं को बताने की जरूरत नहीं समझी गयी, न लेखकों की ओर से, न प्रधानमंत्री की ओर से—कि प्रधानमंत्री खुद आधिकारिक रूप से सूचना मंत्री पद से डॉ० केसकर की सम्पूर्ण हिन्दी-भाषा सम्बन्धी नीति की भर्त्सना कर चुके हैं। अंग्रेजी में कहावत है कि सार्वजनिक याददाश्त बहुत छोटी होती है, लेकिन इतनी छोटी नहीं होती। इस पवित्र अर्धसत्य का उदाहरण महाभारत की याद दिलाता है: इक्तदाव में खुद-फ़रामोश-मोमिन 'अश्वत्थामा हतोहतः' कहता है और हिन्दी के लेखक शेष 'नरो वा कुंजरो वा' को डुबाने के लिए शंख बजाते हैं।

बारम्बार एक ही प्रश्न मन में उठता है—ऐसा क्यों होता है? क्यों आदर्श का राजनीति पर, राजनीति का कूटनीति पर और कूटनीति का चुनाव-धुन्ध पर बलिदान कर दिया जाता है?

इस धुन्ध के बीच से समाजवाद की नीति-रीति की बहस तो क्या ही निकलती—लेकिन लोहिया की ओर से वितरित छोटे-छोटे परचों और सभाओं के जरिये आर्थिक और राजनीतिक प्रश्न उठाये गये जो समाजवादी चिन्तन और कार्यक्रम के रूप में मतदाताओं के सामने रखे गये। यों तो दुनिया में शायद ही ऐसी कोई चीज है जिस पर लोहिया की एक निश्चित राय नहीं है, चूँकि सारी चुनाव चर्चा का केन्द्र लोहिया खुद बन गये थे इसलिए उनका समूचा व्यक्तित्व, उनके विचारधारा और अभिव्यक्ति शैली की स्पष्टवादी तराश के साथ, मतदाताओं के सम्मुख था। लेकिन कुछ प्रश्न उभर कर सामने आये।

कृपलानी के चुनाव के विपरीत, विदेशीनीति—यहाँ तक कि भारतीय सरकार की चीन नीति भी लोहिया के चुनाव में प्रमुख विवाद का विषय नहीं थी। मुख्य प्रश्न आर्थिक और सामाजिक थे। चुनाव जन-समिति के एक परचे में सात प्रश्न इस प्रकार गिनाये गये हैं—

लोहिया चाहते क्या हैं?

१. दामों की लूट बन्द हो। कारखानी चीजों का दाम लागत के ड्योढ़े के अन्दर बँधे। दो फ़सलों के बीच अनाज के दाम में १६ फ़ीसदी से ज्यादा फरक न हो।

२. पिछड़ों को तरक्की के विशेष अवसर मिलें। हरिजन, शूद्र, आदिवासी, औरत, पिछड़े मुसलमान, ईसाई को ६० फ़ीसदी संरक्षण मिले।
३. अंग्रेज़ी हटाकर हिन्दी और मातृभाषा को प्रतिष्ठा दी जाय।
४. आर्थिक बराबरी—१००० रुपये महीने से अधिक किसी का खर्च न हो।
५. बे-मुनाफ़ा की खेती से लगान खतम हो।
६. १५ अगस्त १६४७ की भूमि चीनियों से खाली कराई जाय।
७. तिब्बत आज़ाद हो या कैलास मानसरोवर से हमारी सीमा बने।

इन सारे प्रश्नों पर ज़ोर कमोबेश इसी क्रम से था। अन्य परचों तथा सभाओं में प्रायः इन्हीं समस्याओं की आर्थिक एवं सामाजिक व्याख्या की गई। इनमें से हर प्रश्न पर बहस हो सकती है और होती भी, अगर कांग्रेस की तरफ़ से चुनाव कौशल और धुन्ध पर ज्यादा ज़ोर न दिया गया होता।

क्या कांग्रेस अध्यक्ष जिस 'राइट-रिऐक्शन' का ख़तरा महसूस करते हैं वह इन माँगों को उठाने वाले में परिलक्षित होता है? क्या हिन्दुस्तान की जनता का मन इन प्रश्नों पर दृढ़ हो जाय तो देश से समाजवाद का नाम निशान मिट जायगा? जो लोग अपने को वामपंथी कहते हैं—चाहे वे सिराजुद्दीन मार्का वामपंथी हों, या हिन्दी-सेवा मार्का, या ख़ुश्चेव या माओ मार्का—इन प्रश्नों का तर्क सम्मत सामना क्यों नहीं करते? लोहिया की चारित्रिक हत्या का सहारा क्यों तलाश करते हैं?

ये सारे प्रश्न खो जाते अगर फ़र्रुखाबाद की जनता ने लोहिया को अभूतपूर्व समर्थन न दिया होता। लोहिया ने अपने विरोधी को ५७५६८ वोटों से हराया। चार लाख से अधिक मतदाताओं के क्षेत्र में चुनाव फल इस प्रकार था– (डॉ० लोहिया) सोशलिस्ट—१०७८१६, (डॉ० केसकर) कांग्रेस—५०२२८। प्रसोपा—१६३८५। रिपब्लिकन—५४२२। इस ५७५६८ के बहुमत को हम डॉ० लोहिया के १६६२ के आम-चुनाव के पार्श्व में रख सकते है। लगभग इतने ही बड़े फूलपुर (इलाहाबाद) चुनाव-क्षेत्र से प्रधानमन्त्री नेहरू ने लोहिया को कुल ६४५७१ वोटो से हराया था—जब लोहिया घोषित रूप से केवल प्रतीकात्मक चुनाव लड़ रहे थे।

कांग्रेस की यह व्यापक पराजय चुनाव पंडितों और विश्लेषकों के लिए अप्रत्याशित थी। इसकी व्यापकता का अनुमान हम इससे लगा सकते हैं कि कंझाना मतदान केन्द्र पर कांग्रेस उम्मीदवार को एक वोट भी नहीं मिला और सारे वोट डॉ० लोहिया को मिले। तीन ऐसे मतदान केन्द्र थे जहाँ कांग्रेस को केवल एक-एक वोट मिला। इतना ठोस समर्थन स्वयम् प्रधानमंत्री नेहरू को

भी फूलपुर में कहीं नहीं मिला। कांग्रेस के भूतपूर्व संसद-सदस्य स्वर्गीय श्री मूलचन्द्र दुबे के गाँव में भी डॉ० लोहिया को कांग्रेस से अधिक मत मिले। कन्नौज उपक्षेत्र कांग्रेस का 'गढ़' माना जाता था—वहाँ भी कांग्रेस पराजित हुई। मुख्यतः लोहिया को उस क्षेत्र के किसानों ने जात-पाँत, भीतरी-बाहरी, व्यक्तिगत स्वार्थ इत्यादि के तमाम भेद-भावों को भूलकर, सार्वजनिक आर्थिक-सामाजिक प्रश्नों पर आन्दोलित होकर व्यापक समर्थन दिया। अपने चुनाव-अभियान के आरम्भ में लोहिया ने कहा था : मुझसे मतदाता सिफ़ारिशों और नौकरियों, ठीके आदि दिलवाने की राजनीति की उम्मीद न रखें; मैं उनके सार्वजनिक प्रश्नों पर लड़ सकता हूँ, सिफ़ारिशें नहीं कर सकता। इस व्यापकता को ध्यान में रखना इसलिए जरूरी है कि कांग्रेस और कांग्रेस समर्थक अखबारों की ओर से यह सुझाने की कोशिश की गयी है कि लोहिया को व्यापारियों, महाजनों और ठीकेदारों के वोटों ने जिताया।

लोहिया की जीत के क्या कारण थे ? मुहावरे की भाषा में कहें तो यही कि लोहिया का अभियान खुला—खेल फ़र्रुखाबादी था—और फ़र्रुखाबाद के मतदाताओं ने उनकी स्पष्टवादिता और जागरण के आवाहन को अच्छी तरह समझ कर स्वीकार किया। इसके विपरीत कांग्रेस की ओर से 'चुनाव-हथकण्डे' इस्तेमाल किये गये। प्रधानमंत्री नेहरू ने उपचुनावों के बाद एक वक्तव्य में कांग्रेस की पराजय का कारण विरोधी उम्मीदवारों का 'बेहतर संगठन' बतलाया है।

'बेहतर संगठन' का हवाला कम-से-कम फ़र्रुखाबाद क्षेत्र में अपर्याप्त जान पड़ता है, उतना ही जितना यह कहना कि कांग्रेस की पराजय इसलिए हुई कि विरोधियों को अधिक वोट मिले। बेशक 'चुनाव समितियों' का एक व्यापक संगठन फ़र्रुखाबाद में खड़ा हुआ और उसने अच्छी तरह अपना काम भी किया —लेकिन मूल-प्रश्न तब भी बना रहता है कि देखते-ही-देखते ये समितियाँ कैसे गठित और सक्रिय हो गयीं ? यह सर्वविदित है कि फर्रुखाबाद के क्षेत्र में चुनाव से दो महीने पहले, सोशलिस्ट पार्टी के पास 'बेहतर' तो क्या संगठन के नाम पर भी कुछ नहीं था। १९५७ तथा १९६२ के चुनाव में सोशलिस्ट उम्मीदवार का नाम केवल जमानत जब्त होने के लिए चुनाव सूची में था। तमाम स्थानीय प्रसोपा के कार्यकर्ता प्रसोपा के प्रादेशिक और केन्द्रीय नेतृत्व के जी तोड़ प्रयास के बावजूद खुले आम लोहिया के साथ हो लिये, और गाँव-गाँव में लोहिया के समर्थक निकल आये—क्या यह सब 'बेहतर—संगठन'

का परिणाम था ? कंझाना में, जहाँ कांग्रेस को एक वोट भी नहीं मिला, डॉक्टर लोहिया चुनाव दौरे में एक बार भी नहीं गये। जो लोग मानना नहीं चाहते उनको तो प्रत्यक्ष सूर्य भी प्रकाशमान नहीं दिखेगा, नहीं तो सारा शब्द-जाल इस एक ज्वलन्त सत्य पर परदा नहीं डाल सकता कि फ़र्रुख़ाबाद के इस चुनाव में मतदाताओं के मन में व्यापक उलट-फेर हुआ और लोहिया की विजय स्वतः स्फूर्त लोकप्रियता का परिणाम थी।

क्या लोहिया की इस लोकप्रियता का हिन्दुस्तान की राजनीति पर कोई प्रभाव पड़ेगा ? या लोहिया का सार्वजनिक चेहरा फिर सर्वव्यापी परिस्थिति-घात और खुद उनके आत्म-प्रयोगों का शिकार होकर धूमिल हो जायगा ? ये प्रश्न बहुत कुछ भविष्यत् विश्लेषण के हैं और सम्प्रति इस लेख की सीमा के बाहर हैं। लेकिन इस चुनाव में जो कुछ हुआ उससे हम एक असंदिग्ध नतीजा तो निकाल ही सकते हैं। प्रधानमंत्री ने इन उप चुनावों पर टिप्पणी करते हुए कहा कि कांग्रेस के विरोधियों की जीत में परिवर्तन की हवा नहीं है, बल्कि गतिरोध की हवा है। कम-से-कम लोहिया की जीत गतिरोध की हवा नहीं है। फ़र्रुख़ाबाद में अगर कांग्रेस जीतती तो अवश्य गतिरोध की हवा होती।

क्या हिन्दुस्तान कभी लोहिया की आवाज़ को सुनेगा ? क्या लोक सभा की सदस्यता उनकी आवाज़ की हर दिशा में दौड़ती हुई गूंज को, जिसके कारण वे सबसे अधिक बदनाम हैं, लेकिन जो उनका एक मात्र गुण है, जो समाजवाद को केवल पेन्शन-जीवन-स्तर और डाकखाना-उद्योगीकरण तथा नौकरशाही-तानाशाही और अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्र—से अलग एक सांस्कृतिक एवं आदर्शात्मक जीवन-दृष्टि बनाता है—क्या विचारों और विश्वासों की इस गूंज प्रतिगूंज को धूमिल कर देगी।

खुद लोहिया को इसका विश्वास कम है कि उनके जीवन-काल में देश उन्हें सुनेगा। अपनी पुस्तक 'पच्चीस हज़ार रुपये रोज़' में उन्होंने लिखा है : "शायद लोग मेरी बात सुनेंगे, लेकिन जब मैं मर जाऊँगा तब।"

आज लोहिया राजनीति में लगभग अकेले हैं। बहुत कुछ यह अरण्यवासी अकेलापन उनका खुद का चुना हुआ है। इसकी बुनियाद तभी पड़ी थी जब उन्होंने केरल में अपनी पार्टी के मुख्य मंत्री पट्टम-थानु-पिल्लाई को सरकार से इस्तीफ़ा देने की माँग इसलिए की थी कि पट्टम-थानु-पिल्लाई ने निहत्थी भीड़ पर गोली चलायी थी; और आये दिन गोली चलाने वाली कांग्रेसी सरकारों के इस्तीफ़े की माँग प्रजासोशलिस्ट पार्टी न जाने कितनी बार कर चुकी

थी। यह सब इतिहास है। क्या भविष्य में लोहिया की ओर लोग आकर्षित होंगे या 'जवानी में तिरस्कृत और अधेड़पन में दुष्प्राप्य, यह संसद-सदस्यता पाँच वर्षों के बाद लोहिया को और भी अकेला छोड़ जायगी? १९५५ में जब लोहिया ने प्रसोपा से निकाले जाने पर एक अलग पार्टी के निर्माण की घोषणा की तब आचार्य नरेन्द्रदेव ने चुनौती देते हुए कहा था—एक आदमी अकेला पार्टी का निर्माण नहीं कर सकता। सुभाष बोस भी अकेले पार्टी बना कर नहीं खड़े रह सके। राममनोहर लोहिया क्या करेंगे? नरेन्द्रदेव की चुनौती आज भी लोहिया के चारों ओर मँडराती है। क्या लोहिया इस चुनौती का जवाब दे सकेंगे?

यह बहुत कुछ इस पर निर्भर करता है कि हिन्दुस्तान के लोग उन प्रश्नों का क्या उत्तर देते हैं जिन्हें हमने इस लेख के आरम्भ में पूछा था—उन्हीं प्रश्नों को दुहराने से बेहतर इस सारे विश्लेषण का अन्त हो सकता :

डॉ० राममनोहर लोहिया क्या हैं? क्या वे बौद्धिक विचारक हैं? जन-नेता हैं? सनकी हैं? उन्मत्त अहंवादी हैं? गुण्डे हैं? स्त्रियानाम् प्रिय हैं? क्रान्तिकारी भविष्यद्रष्टा हैं? 'प्रतिक्रियावादी शक्तियाँ' हैं? सच्चे अर्थों में जनतंत्र के हिमायती हैं? तानाशाह हैं? चिरन्तन सत्याग्रही हैं? कटुभाषी दुराग्रही हैं? या यह सब मिलकर, या इन सबके अतिरिक्त कुछ और हैं?

□□

संतप्त शहर के तीन दिन : डायरी के थोड़े से पन्ने

इलाहाबाद, २६-८-५६। ज्यों ही मैंने आज का अखबार खोला, दो खबरों पर मेरी नजर पड़ी। चीन ने भारत की सरहद के भीतर के एक हिस्से पर कब्जा कर लिया है, हमारी अग्रिम चौकी पर गोलाबारी की है, और प्रधानमंत्री ने पार्लामेण्ट में चीन की कारवाई पर विलाप किया है और कल ही तो इलाहाबाद में एक स्थानीय 'सिनेमा घर मानसरोवर' पर विश्वविद्यालय के छात्रों ने सामूहिक हमला कर दिया और पुलिस ने गोली चलाई, जिसमें तीन व्यक्ति मारे गए।

●

काफी हाउस में इन दुर्घटनाओं को भूलते हुए, मैं बिलकुल राजी-खुशी व आराम से हल्की-फुल्की दिलचस्प चीजों पर बी० ए० के साथ गप्प लड़ाने बैठ गया। जे० एस० ने एकदम और ही दूसरी किस्म की खबर दी, कि सरकारी रपट से कहीं अधिक तादाद में लोग घायल हुए और मरे हैं। छोटी-छोटी इर्द-गिर्द की गलियों में भी गोलीबारी हुई है। घरों की छतों और आंधी में किताब के पन्नों की तरह फड़फड़ाती, खुलती व बंद होती, खिड़कियों व दरवाजों पर भी गोलियां चलाई गई हैं और पिछली गली के एक वकील के घर के कमरे में भी एक गोली जा पहुँची है। ३६ राउण्ड—कितनी गोलियाँ होती है ३६ राउण्ड में? कितनी? यह एक गोल-मटोल संख्या है। राउण्ड का सही मतलब या मायाना कोई भी नहीं जानता।

●

हम लोग बैठे काफी की चुस्कियां ले ही रहे थे, कि एम० एल० साहब भी तशरीफ ले आये। आते ही बोले क्या तुम लोगों को यह पता है, कि आम नागरिक इस बात से बहुत ही खुश हैं, लड़कों की खूब पिटाई हुई। उन्हें एक तरह की खुशी हो महसूस हुई। सरकारी बयान का इकरार है कि तीन ही मरे। गैर सरकारी अन्दाज से तो कुछ और भी इस असार संसार से कूच कर चुके हैं।—३६ राउण्ड में कितनी गोलियां होती हैं? एम० एल० को मालूम नहीं। उसने कोई जवाब तो दिया था! हाँ जी! उसने कहा था—

३६ गोलियाँ ! और इस खुशी में एम० एल० भी शरीक या शामिल हो गये। हाँ मैं सहमत हूँ। और कल अगर सभी मजिस्टर बर्खास्त कर दिये जाएँ और जिला मजिस्टर भिखारी बना दिये जाएँ तो भी औसत दर्जे के नागरिक को खुशी का ही अहसास होगा। नहीं, एम० एल० ने कहा, एकदम ऐसी ही बात तो ठीक नहीं है। गोलीबारी के जुल्म पर दण्ड मिलने से खुशी नहीं। लेकिन अगर पाकिस्तान की तरह भ्रष्टाचार के अभियोग में उन पर गोली चला दी जाय तो आम लोग खुश होंगे। परन्तु क्या ऐसी शर्त लगानी सचमुच ही जरूरी है ? और दो साल पहिले ही जब बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के अध्यापकों के खिलाफ सरकार ने कड़ा कदम उठाया था, तब भी तो आम नागरिक को बड़ा मजा आया था। लेकिन क्या उनमें से भी कुछ अध्यापकों के खिलाफ यह कदम उचित नही था ? इस बात पर ए० जी० आफ़िस के क्लर्क के नजरिये से गौर कीजिये।—जे० ने कहा कि हाँ, अगर कल ए० जी० आफिस के क्लर्क हड़ताल कर दें और उन पर मार पड़े या गोली चला दी जाए, तो साधारण नागरिक को फिर दुबारा खुशी का ही अहसास होगा। क्या वे भी आखिरकार इसके पात्र नहीं है ? और आज, मैंने कहा कि यह देख कर कि यू एन० लाई ने जवाहरलाल की पिटाई की है, तो एक मिनट के लिए मुझे भी तो खुशी ही हुई। क्या उन जैसे घमण्डी, बनावटी, पाखंडी, धोखेबाज व्यक्ति के लिए यह मुनासिब सलूक नही था ? तुम लोगों में से कितनों को इस खुशी को अहसास हुआ ? एक खामोशी छा गई। ·अब बाहर चलना चाहिए। और बेसक काफी हाउस से चल पड़े।—तुम्हारी खुशी का यह अहसास तुम्हें कहाँ ले जाएगा ?

●

आज सुबह अपने बयान में उपकुलपति ने बताया कि तीन शख्स मरे हैं। इसके बाद सिर्फ सन्तोष की सी-सांस लेते हुए, ही नहीं बल्कि खुशी का इजहार करते हुए उन्होंने यह भी कह डाला, कि उनमें छात्र तो एक भी नहीं था। हम में से तो एक भी कोई मरा नहीं। भगवान को धन्यवाद दीजिए। 'वे' तो दो दूसरे ही लोग मरे थे। भाई, तक्षशिला की सीमा पर तो दो देशों की पलटन एक दूसरी का सामना कर रही हैं, तुम किस तरफ हो ?

●

एक को तो तुमने अपने दस लाख सैनिक भेज दिये और दूसरे के पास तुम खुद सारथी और सलाहकार बन कर पहुँचे। भाई, तुम किस तरफ हो ?

●

दोपहर के बाद मैं के० से मुलाकात करने के लिए आकाशवाणी केन्द्र

में गया। वे चाहते थे कि काफी खर्च और श्रम से गाई गई, नाची गई, उस रासलीला को हम लोग सुनें, जिसकी टेपरिकार्डिंग भी की गई थी। एक आमोद प्रमोदमय जीवन की मस्ती को याद। क्या तुम्हें याद है, भाई कि एक जमाने में हमने भी यानी हमारे पुरखों ने बड़ी मौज और मस्ती अपनी जिन्दगी में लूटी थी। धुंधली-सी याद है मुझे उसकी; फिर भी रोएँ उन्माद से खड़े हो जाते हैं। इस तरह की मामूली याददाश्त से तो काम नहीं चलेगा। इसके आनन्द में बिलकुल ही खो जाओ। भूलो, भूल जाओ। सिर्फ़ यही एक ही तो हकीकत है, वास्तविकता है और तो कुछ भी नहीं। तुम यह बात सुनते क्यों नहीं? किसी पुरातन युग में हम भी तेजस्वित्व हर्षातिरेक का जीवन बसर कर रहे थे।—और के० ने एम० से पूछा कि अब तुम गोलीबारी के बारे में क्या कहते हो—क्या वे इसके मुस्तहक़ नहीं थे?—हाँ, वे गोली खाने के मुस्तहक़ थे और इस परम आनन्द की मस्ती से हमारे रोएँ खड़े हो गए। रासलीला में तो भारत के सभी क़िस्म के नाच गूँथ दिये गये हैं।

घर। के० जी० ने ड्राइंग रूम के लिए तीन बड़े ही खूबसूरत पर्दे तैयार कराये थे, जिन्हें उसने दरवाजों पर लटकवा दिया था। हमको दीवारों पर भी आसमान का-सा नीला रंग पुतवाना होगा, वरना रंगों का मेल ठीक नहीं बैठेगा। फ्लोरसेण्ट बल्बों की चमचमाती रोशनी में हवा से हिलते हुए लाल पर्दे। इसके अलावा हमको और भी चीज मँगानी पड़ेगी। कलमदानियाँ नई टैपेस्ट्री और सपनों की-सी सुन्दर सोफ़ाओं और कुरसियों पर लगी रंगीन खोलियों और क्षीरसागर में डूबे हुए शहर के समान रंगों का मेल होगा। बाबू एस० बी० नाम के वकील के ड्राइंग रूम से होते हुए और पर्दों को चीर कर अचम्भे में भौचक्के हुए-से घर वालों के देखते-देखते ही, एक गोली सामने की दीवार से जा टकराई। वकील साहब ड्राइंग रूम को उसी हालत में ज्यों-का-त्यों सँभाल कर रखे हुए हैं, ताकि लोग आयें और देखें। फर्श पर टूटे शीशे के टुकड़े पड़े हैं, पर्दे में छेद है, दरवाजे पर औरतों की कानाफूसी की फुसफुनाहट है और वकील साहब कमरे में बैठे दर्शकों का इन्तजार कर रहे हैं। तुम जाओगे भाई, उस कमरे का मुलाहजा फरमाने के लिए?

●

'जब मैंने कैस्क से सुना कि तुमने हेमकूट छोड़ दिया है, तो मैं यहाँ लौट आयी और बहुत ही कड़ी तपस्या की। मैंने एक ऐसे ब्राह्मण नौजवान को देखा, जो कि अपने इर्दगिर्द की हर एक चीज की ओर घूर-घूर कर इस

तरह से देख रहा था, मानो वह किसी खोई हुई चीज को तलाश कर रहा हो ! मुझे देखते ही उसमें यकायक एकदम ही परिवर्तन आ गया और प्रतीत हुआ जैसे मुझे सदा से पहचानता या जानता हो, हालांकि मैंने उसे पहले कहीं भी नहीं देखा था। प्रेम, प्यार, या मुहब्बत भरे शब्दों से उसने मुझे अपनी ओर आकर्षित करने की कोशिश की। मेरे हृदय ने तो पुंडरीक की मौत के बाद से ही सांसारिक सुखों से संन्यास-सा ले लिया था, इसलिए मैं वहाँ से फौरन ही उठकरचल दी और वरलिका से कहा कि उसे वह मुझसे दूर रखे या एकदम अलग हटा दे। इसके कुछ ही दिनों बाद, जब कि मैं अपने बिछौने पर लेटी हुई, निद्राविहीन रात बिता रही थी तो वह धीरे-धीरे मेरे बिस्तर में घुस आया और मुझसे आत्मसमर्पण करने को कहा। मैंने उस कामातुर नवयुवक को श्राप दिया—तुम तोते बन जाओ और वह फौरन ही निर्जीव होकर धरती पर गिर पड़ा। बाद में उसकी लाश के पास रोते हुए लोगों से मुझे पता चला, कि वह तो तुम्हारा ही मित्र था।" जब महाश्वेता निस्तब्ध आँसुओं के साथ अपनी कहानी समाप्त कर चुकी, तो चन्द्रापीड़ का हृदय टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो गया और वह निष्प्राण होकर जमीन पर गिर पड़ा।



काफ़ी हाउस में हँसी और काफ़ी का तीसरा दौर। काफ़ी के एक दौर में कितनी प्यालियाँ काफी की होती हैं ? इसका हिसाब भी तो समय और स्थान पर ही तो आश्रित है। मैं बेबीलोन के किनारे पर बैठा रहा। बैठे-बैठे रोता रहा।

३०-८-५६ :

पकड़े गये। मैंने भी तो तुम को जुल्म और कायरता के बीच पकड़ लिया है, भाई, तुम कहाँ जाओगे ?



एक धुंधला-सा नजारा मुझ भद्र की आँखों के सामने डूबा-उतराया। अब वह दृश्य आग और लपटों में तबदील हो गया, फिर प्रह्लाद का चेहरा और उसके बाद फिर और लपटें। नहीं, यह तो किसी का मुखड़ा था। नहीं वह आग और लपटें थी। आग उसके खिलाफ नहीं थी। वह तो खुद ही आग था।



हंसों का गीत सुनने के लिए मानसरोवर के किनारे डेढ़ सौ व्यक्ति बैठे

इन्तजार कर रहे थे। जलते हुए पेट्रोल की महक, नलों में तेजी से बहता पानी और जला कर राख बना दिये जाने अथवा पानी में डुबा दिये जाने की प्रतीक्षा में बैठे हुए लोग। तुम कौन हो?—मैं एक पाइलट या विमान चालक हूँ। हंसों का गीत सुनने आया। यह रही मेरी टिकट। तुम क्या चाहते हो? मैं थोड़ा सा यही पता लगाना चाहता हूँ, कि किधर जाऊँ। पाइलट को इन सब उलझनों में क्यों डालते हो उसे यहाँ से हटा दो। क्या तुम्हें डर लगता है? हाँ, बाजे के तार की तरह जो काँप रहे हो। आओ चलो। मैं तुम्हें अपनी जीप में ले चलूँगा और निर्जन सड़कपर छोड़ दूँगा। मेरे मददगार। मेरे आश्रयदाता। मैं तो तुम्हारा ही हूँ।

●

और क्या तुम जानते हो? जब उसने भगवान का नाम उलट दिया और उसे बार-बार दुहराया, तो उसमें एक बड़ा भारी परिवर्तन आ गया। मानो उसने अपनी कोई खोई हुई निधि फिर वापस पा ली हो। उसने अपने विश्वास को कायम रखा और झूठ को हजारों बार दुहराते-दुहराते उसे सच बना डाला। और वह ब्रह्मा के समान स्थान पा गया और वही संसार का आदि कवि हुआ।

●

सिर्फ एक ही बार उसने अपनी ख्वाहिश जाहिर की। वह अपने फर्श पर बिछाने के लिए एक स्वर्ण मृग की खाल चाहती थी। और जब उसे अकेला छोड़ दिया गया, तो उसने अपनी सीमायें लाँघ डाली और वह घनघोर विपत्तियों के जाल में फँस गई।

●

एम० को हार का दर्शन या विचार पसन्द है। कौन देगा उसे यह भेंट? बनारस में मेरे घर के ठीक सामने ही एक हलवाई रहता था। वह किसी करिश्मे या चमत्कार की इन्तजार में बैठा था। उससे कम किसी भी उपाय से 'कंट्रोल' या दाम नियंत्रण का कानून खत्म नहीं हो सकता था। 'कंट्रोल' से वह बुरी तरह तङ्ग आ गया था। उसे कभी सूने एकान्त में रहने का मौका नहीं मिला और इसीलिए यह कभी भी विपत्तियों के जाल में नहीं फँसा।

●

मजिस्टर ने कहा 'हमारा राष्ट्रीय चरित्र बहुत नीचा गिर गया है'—भगवान को धन्यवाद दो कि इस 'हमारे' में हम तुम दोनों शामिल या शरीक नहीं हैं। तभी तो हम सभी सुरक्षित हैं।

३१-८-५६ :

के० जी० के रिमार्क पर तुम इस गोलीवारी के सवाल से कब तक परेशान रहोगे ? दिन शुरू हुआ। शहर वापस अपनी शांत स्थिति में आ गया और इस सवाल का जबाब देना दिन-ब-दिन ज्यादा-से-ज्यादा मुश्किल होता जा रहा है। दिन भर छोटी-मोटी खबरें मिलती रहीं। लड़कों और पुलिस के दरम्यान, दो शांति-सैनिक सड़क पर चित्त लेटे हुए 'शांति' मन्त्र का उच्चारण करते रहे। वे लड़कों की ओर देख कर बोले—'शांति', फिर पुलिस की तरफ देख कर भी बोले—'शांति', और फिर आसमान की ओर देख कर बोले—'शान्ति'। वे मसले, कुचले, रौंदे और पीटे भी गये। लेकिन उनकी इस बात की रपटें पत्रों में प्रकाशित नहीं हुई और अखबारों की मोटी-मोटी सुर्खियों में नहीं छपी। इस कहानी पर काफी हाउस में अवश्य ही हँसी का कहकहा गूंज उठा। उपहास और उत्कृष्टता में क्या अन्तर है ? सिर्फ अखबार की सुर्खी।



दोपहर के बाद देर तक सिविल लाइन केथेड्रल के नर्म दूब वाले हाते में मैं जे० एस० और एल० के० बी० के साथ बैठा रहा और उस वक्त तक गप्पें लड़ाता रहा, जब कि सूरज में लाली आ गई और शाम को लौटी हुई छोटी चिड़ियों की चह-चहाहट से पेड़ों की ऊँची टहनियाँ गूंज उठी। और हम बातें करते रहे—अपमान, दमन, हिम्मत, बुजदिली, प्रतिवाद, गोलीबारी, जुल्म, अनुशासन और नियमित नियंत्रित स्थिति की। जे० ने कहा—मैं तीन दिनों तक अपने अखबार के दफ्तर में बैठा रहा और मैंने सच को एकदम समीप ही पास से गुजरते हुए देखा और झूठ को अपनाया। तुमने ऐसा काम क्यों किया ? मैंने ऐसा नहीं किया। नियमित स्थिति को फिर दुबारा स्थापित करने के पक्ष में ही ऐसा काम किया गया। मैं तो मशीन के पुरजे की तरह ही हूँ। प्रो० के० ने बताया कि तीन दिनो तक सरकारी अफसरो व पुलिस ने तङ्ग किया और अपमान किया। तुमने यह सब क्यों बर्दाश्त किया ? मैं यह सब बर्दाश्त नहीं करना चाहता था। तुम देखते हो, यह यातना मुझपर थोपी गयी थी। समझो, मैं गलतफहमी का शिकार नहीं बनना चाहता, मैं नियमित-स्थिति को वापस लाने के पक्ष में हूँ।—मैंने कहा—तीन दिनों तक, उखड़ी जड़ों वाली लड़खड़ाती सभ्यता की व्यथा और उसकी पीड़ा का एहसास मैंने किया है। आखिर कितने दिनों तक यह मुझे परेशान करती रहेगी ? शहर वापस अपनी औसत नियमित स्थिति में लौट आया है, और के० जी० के सवाल का जवाब देना धीरे-धीरे और भी अधिक मुश्किल होता जा रहा है। □□